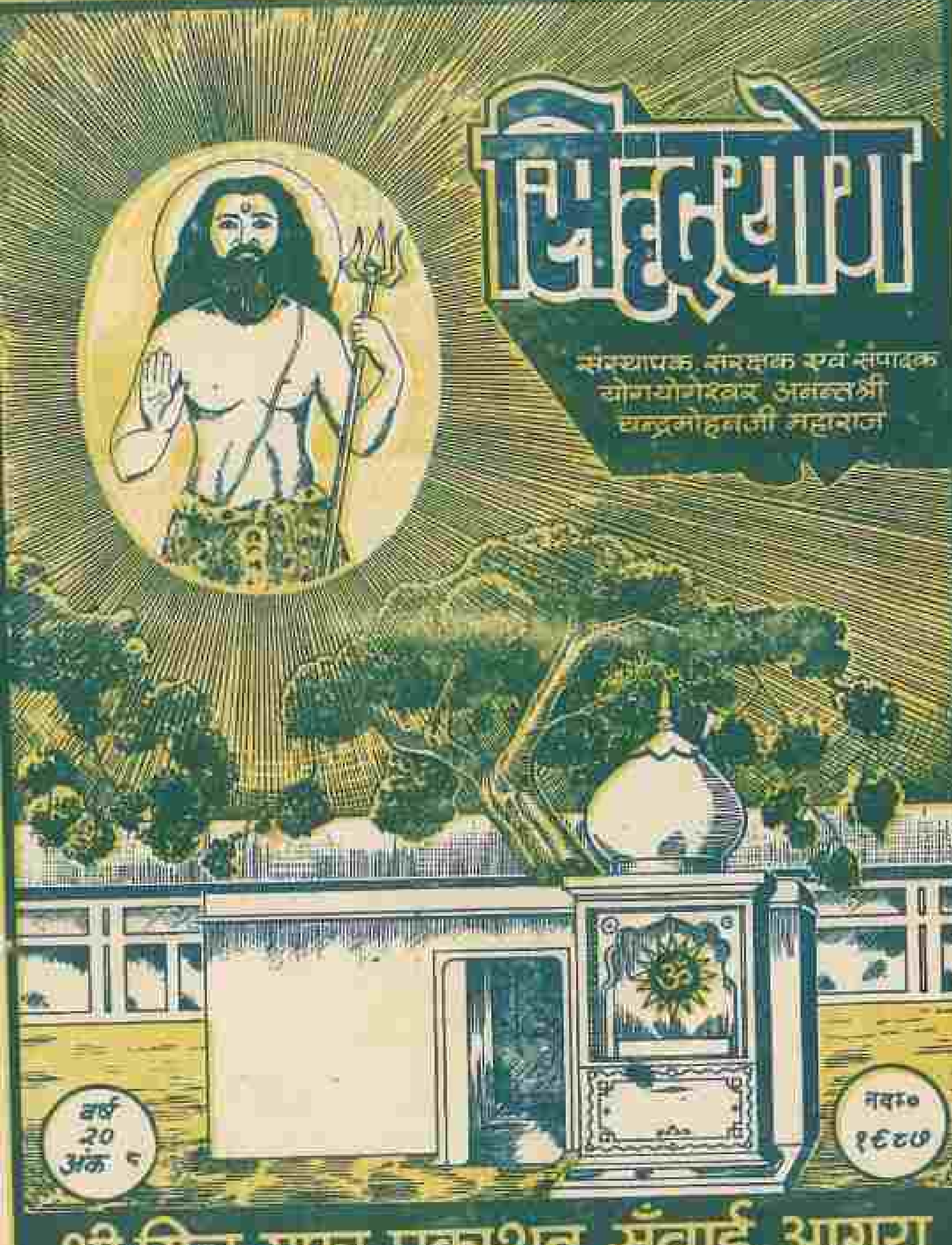
सिद्धयोग
संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज
वर्ष २०
अंक ९
नव०
१९८७
श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवांई

❀ मुच्यते सर्व पापैः (प्रार्थना) १

❀ दैवी सम्पदा और उसका संवर्द्धन (विशेष लेख) २७
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

❀ मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ! (कविता) ६
श्री रायकृष्णदास

❀ विश्वनाथपुरी काशी में— ७
श्री गुरुदेवजी का जन्म-दिवस समारोह

❀ योग-साधना का मूल आधार ९
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

❀ गीता-दर्शन ११
डा० सुशीला मीतल

❀ गुरु किसे बनाना चाहिए ? १९
श्री केशव उपाध्याय

❀ गुरु नानकदेव २३
डा० श्री विजयसिंह

❀ समय का मूल्यांकन २६
श्री विष्णुप्रसाद व्यास

❀ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् ३२

❀ चिकित्सा-विज्ञान : कुछ तथ्य ३४
आचार्य श्री वेदभूषण

❀ योग और भजन-कीर्तन ३७
ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश

❀ गुरु लोपो न कर्त्तव्यः ३९
श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

❀ योग द्वारा उपलब्धि ४१
डा० विजयशंकर उपाध्याय

❀ काशी है पृथ्वी का ब्रह्मरन्ध्र ४४
ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

नवम्बर
१९८७

वार्षिक मूल्य ३० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा ।

वर्ष २०	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभासम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविधान् योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणार्त्तं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	नवम्बर
अङ्क ८		१९८७

❁ मुच्यते सर्व पाशैः ❁

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्,
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वे० उप० अ०—६—मं०-१३

अर्थात्

जो नित्य चेतन परमात्मा अकेले ही बहुत से नित्य चेतन जीवात्माओं के कर्म-फल भोगों का विधान करते हैं । उनको प्राप्त करने के दो साधन हैं—एक ज्ञानयोग, दूसरा कर्मयोग; भक्ति दोनों में ही अनुस्यूत है । ऐसे ज्ञानयोग और कर्मयोग द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य सबके कारण रूप परमदेव परमेश्वर को जानकर मनुष्य समस्त बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

दैवी सम्पदा और आसुरी के स्वरूप को तथा उनके गुण दोषों को भली प्रकार जानकर मनुष्य उनके ग्रहण और त्याग के लिए तत्पर हो सकता है, यही अन्तर दोनों प्रकार की सम्पदाओं का गीता में विस्तार योगावतार भगवान श्रीकृष्णने समझाया है। इसी सुबोध और सरल व्याख्या प्रस्तुत लेख श्री गुरुदेव ने 'सिद्धयोग' के अपने प्रिय पाठकों को हृदयङ्गम कराने की कृपा की ताकि वे सिद्ध मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए आसुरी सम्पदा का त्याग करते हुए दैवी सम्पदा को अपना आधार बना लें।

—सं० स०

दैवी सम्पदा और उसका संवर्द्धन

जीवन के उत्थान में, उसे श्रेयस्कर और सुख-शान्तिमय बनाने में दैवी सम्पदा जितनी सहायक हो सकती है, उतनी संसार की अन्य कोई भौतिक सम्पदा नहीं। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी सत्यका प्रतिपादनकरते हुए श्रीमद्भगवद् गीता के सोलहवें अध्याय में इसे संसार से विमुक्त होने का प्रमुख साधन बताया है। साथ ही भगवान् ने यह भी कहा है कि दैवी सम्पदा को त्यागकर यदि तुम आसुरी सम्पदा को वरण करोगे तो निश्चित रूप से पराभव के बन्धन में पड़ जाओगे। जिसका परिणाम दुर्गति और दुःसह दुःखों के दुर्गम जंगलों में भटकाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। पढ़िये भगवान् के इस सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विचारों को—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

आगे इसी श्लोक में वे आश्वस्त कर रहे हैं अर्जुन को—

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

—गीता १६/५

हे अर्जुन! तुझे किसी प्रकार का शोक और चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तू दैवी सम्पदा से युक्त होकर ही उत्पन्न हुआ है। तेरा जन्म-जात ध्येय और लक्ष्य इसी संपदा के विवर्द्धन तथा संरक्षण का होना चाहिए।'

यह सर्वमान्य बात है कि भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर जो उपदेश दिया है, वह संसार के प्रत्येक विचारशील मनुष्य के लिए है। यह संसार ऐसा संग्राम-क्षेत्र है, जिसमें दैवी और आसुरी शक्तियाँ मनुष्य को निमित्त बनाकर सर्वदा युद्ध-रत रहा करती है। जो मनुष्य दैवी सम्पदा के आयुधों से लैस (संनद्ध) होकर यहाँ जीवन

के युद्ध-क्षेत्र में उतर पड़ता है वह आसुरी सम्पदा के आयुधों को धारण करके लड़ने वाले व्यक्तियों को पराजित करके, उनके द्वारा पैदा किये गये अपराधों को ध्वस्त करते हुए विजयश्री का वरण कर लिया करता है।

अतः भगवान् के इस तत्व-ज्ञान को उन सभी को हृदयस्थ कर लेने की जरूरत है, जो जीवन को श्रेयस्कर यशस्वी और आनन्द-मय बनाने की अभिलाषा रखते हैं। साथ ही भगवान् के इस कथन की ओर भी सबको ध्यान देने की आवश्यकता है कि प्रत्येक मनुष्य दैवी सम्पदा के बीजों को लेकर ही यहाँ उत्पन्न होता है।

अतः यह चिन्ता और परेशा करने की जरूरत नहीं है कि दैवी सम्पदा का अर्जन कैसे होगा? बीज रूप इस सम्पदा को लेकर तो वह आया ही है। जरूरत है इन्हें विकसित, पल्लवित और पुष्पित करने की तथा यह ध्यान रखने की कि आसुरी सम्पदा के जो बीज पास ही उसके हृदय के कोने में दबे पड़े हैं, झाड़-झंकार की तरह उभर कर कहीं दैवी सम्पदा के बीजों को घेर कर उन्हें अंकुरित होने से रोक न दें। इसके लिए सतत् जागरूक और प्रयत्नरत रहने की आवश्यकता है, इसका ध्यान तुम्हें रखना होगा।

अपनी दैवी सम्पदा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए 'जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है'—की लोकोक्तिके अनुसार निरन्तर जागरूक बने रहने का प्रयत्न तुम्हें करना चाहिए ताकि प्रमाद, आलस्य और अहंता जैसी आसुरी सम्पदाके बीज उभरकर दैवी सम्पदाके अंकुरों की बढ़ोत्तरीका मार्ग अवरुद्ध न करदें।

दैवी और आसुरी सम्पदा के गुण धर्म क्या है? इन्हें स्पष्टतः आप किस प्रकार जान सकेंगे, इसका विस्तार से वर्णन योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के इसी अध्याय १६ में भली प्रकार से कर दिया है। इस अध्याय का नाम ही 'दैवासुर सम्पद विभाग योग' है। पढ़िए बता रहे हैं भगवान् दैवी सम्पदा के नाम रूप और गुणधर्मः—

अभयं सत्व संशुद्धिः,
ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च,
स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधः,
त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेषु अलोलुप्त्वं,
मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृति शौचम्,
अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीम्,
अभिजातस्य भारत ॥

अर्थात्—भय का सर्वथा त्याग, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्व-ज्ञान के लिए ध्यान में निरंतर दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन, भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, तप

यानी स्वधर्म-पालन के लिए कष्ट-सहन, शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता तथा मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना। मधुर व सत्य भाषण, किसी पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना। सब प्राणियों पर हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग न होने पर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि (मानसिक और शारीरिक), किसी के प्रति भी शत्रुता का भाव न रखना, अपने में अति मानता का अभाव, ये सब सद्गुण दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

भगवान् ने विस्तार से अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार के सभी मानवों को यह अमर सन्देश दिया है। इन उपर्युक्त सद्गुणों को धारण करने वाला ही दैवी सम्पदा अधिपति कहा जा सकता है और जो दैवी सम्पदा का अधिपति होगा, जीवन व्यवहार में जिस व्यक्तिमें इन गुणोंका जितना अधिक प्रत्यक्षीकरण होगा उतना ही अधिक वह निःश्रेयस और शाश्वत सुख और शान्ति का भागी बनेगा। जो संस्कारी आत्मायें होती हैं उनमें दैवी सम्पदा के ये सभी गुण-धर्म उत्तरोत्तर विकसित होते रहते हैं। इनके विकास की पूर्णता और परिपक्वता ही मनुष्य को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कराके मोक्ष के उस केन्द्र-बिन्दु पर ले आकर खड़ा कर देती है, जिसे पुरुषार्थ का चरम लक्ष्य बताया गया है अथवा योग-दर्शन में जिसे कैवल्य-धाम की संज्ञा दी गई है।

दैवी सम्पदा के नाम से ऊपर जिन २६ सद्गुणों को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आचरण और व्यवहार में उतारने की आवश्यकता पर बल दिया गया है, प्रकारान्तर से इनमें से अधिकांश गुण-धर्म—योग-दर्शन के यम-नियमों की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः योग-पथ के साधकों के लिए दैवी सम्पदा के गुणोंको व्यवहार और आचरण में उतार कर उन्हें उजागर करना कोई दुःसाध्य साधना नहीं हो सकती। जो योग-साधक यम-नियमों के पालन का व्रत लेगा, उनमें दैवी सम्पदा के गुण स्वतः ही अपना स्थान बना लेंगे। केवल ध्यान रखनेकी बात यह है कि आसुरी संपदा के निकृष्ट गुण अपना विकास पाकर दैवी संपदा के सुन्दरतम उद्यान को ध्वस्त न कर दें। दैवी सम्पदा के विवर्धन और विकास में आसुरी सम्पदा अन्तरायों के रूप में आकर अपना स्थान न बना ले इसका एकमात्र उपाय है साधक का सतत् जागरूक रहना।

योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने श्रीमद्भगवद्गीताके इस दैवासुर संपद्-विभाग योग नामक सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत् के वर्णन के उपरान्त आसुरी सम्पदा का भी

परिचय करा दिया है ताकि साधक असुरों के जैसे दुर्गुण और दुराचारों से बच कर अपने लक्ष्य की ओर अबाध गति से बढ़ता चला चले। भगवान् कह रहे हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च,
क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य,
पार्थ संपदमासुरीम्॥
—गीता १६/४

अर्थात् हे अर्जुन! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा कठोरता और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं। संसार की दो ही गतियाँ हुआ करती हैं, जिन पर उसकी जीवन-यात्रा अवलम्बित रहती है—एक उत्थान की ओर दूसरी पतन की। जो लोग अपना उत्थान और उत्कर्ष चाहते हैं, संसार-बन्धन से अलग हटकर जिन्हें मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा है, उन्हें सदा अपने हृदय में पड़े हुए दैवी गुणोंके बीजों को ज्ञान, सत्सङ्ग, साधना, वैराग्य, तप और स्वाध्याय द्वारा निरन्तर विकसित, पल्लवित और पुष्पित करने का प्रयास करते रहना चाहिए। उनका यह सतत् प्रयास ही उन्हें पतन के गर्त की ओर अथवा आसुरी मार्ग पर जाने से रोकने में समर्थ हो सकेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने आसुरी सम्पदा के और इसके धारक पुरुषके लक्षणोंका और भी अधिक विस्तार से वर्णन इस प्रकार किया है—

हे अर्जुन! आसुरी भाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को नहीं जानते, उनमें न शौच (शुद्धता) होती है न सदाचरण और न सत्य, वे यह भी कहते रहते हैं कि संसार निराधार, असत्य है और यह कुछ तत्वों के परस्पर संयोग के कारण कामोपभोग हेतु ही उत्पन्न हुआ है, यही इसका प्रयोजन है अन्य नहीं। आसुरी कुसम्पदा वाले व्यक्ति गंभीर चिन्तन नहीं करते। अपने अहंकार के कारण दिव्य शक्ति सम्पन्न सदाचारी महात्माओं के अनुभव एवं विचारों का तिरस्कार कर देते हैं। ऐसे लोग अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद भी नहीं जानते कि किनमें प्रवृत्त होना चाहिए और किन कर्मों से निवृत्ति होना चाहिए, इसका वे विचार भी नहीं करते। स्वभाव से ही असत्य आचरण, असत्य भाषण करते हुए स्वार्थ-परायण बने रहते हैं। प्रमादवश यह भी कहते रहते हैं कि संसार का पालन-पोषण व नियन्त्रण करने वाली कोई दिव्य सत्ता नहीं है तथा सृष्टि प्रयोजन रहित है, ये सदा कभी न पूरी होने वाली कामनाओं से ग्रस्त रहते हैं। ये प्रायः दम्भी, अभिमानी और मदान्ध हुआ करते हैं तथा सर्वत्र अपनी ही प्रतिष्ठा और सुख चाहते हैं। इन्हें अन्य कोई अपने से अधिक चतुर, बुद्धिमान और योग्य अथवा धनवान दिखाई ही नहीं देता। यह सदा समाज और देशका अहित ही किया करते हैं। अपने आचरण से भ्रष्टाचार और अनाचार को बढ़ावा देना ही अपना फर्ज समझते हैं। निश्चय ही ऐसे आसुरी सम्पदा वाले लोग संसार में पशुओं की भाँति जीवित रहकर ही मर जाते हैं। इसलिये ऐसे लोगों से उन साधकों को सदा बचकर रहना चाहिए जो दैवी सम्पदा का अर्जन और संवर्द्धन करने का संकल्प लेकर योग-पथ पर चल पड़े हैं। ❀

❀ मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ! ❀

बनालो जहाँ, हाँ, वहीं स्वर्ग है,
स्वयंभूत थोड़ा कहीं स्वर्ग है ?
अधमों को कहीं भी नहीं स्वर्ग है,
भलों के लिए तो यहीं स्वर्ग है ॥
सुनो स्वर्ग क्या है ? सदाचार है।
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ॥

नहीं स्वर्ग कोई धरा-वर्ग है,
जहाँ स्वर्ग का भाव है, स्वर्ग है।
सुखी नारकी जीव भी हो गए—
वहाँ धर्मराज स्वयं जो गए ॥
कदाचार ही रौरवागार है।
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ॥

यहीं स्वर्ग चाहे बना लीजिए,
यहीं नारकी सृष्टियाँ कीजिए।
नहीं कौन-सी साधना है यहाँ,
वहीं सिद्धि है साधना है जहाँ ॥
महा साधना-क्षेत्र संसार है।
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ॥

स्वयं क्यों न संसार निःसार हो,
भले ही यहाँ मृत्यु-संचार हो।
नहीं किन्तु विश्लेष है क्या यहाँ,
जहाँ इष्ट है क्या नहीं है वहाँ ?
शरीरस्थ कर्ता क्रियाधार है।
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ॥

जहाँ ज्ञान है, कर्म है, भक्ति है,
भरी कर्म में ईश्वरी शक्ति है।
जहाँ भुक्ति में मुक्ति का धाम है,
जहाँ मृत्यु के बाद भी नाम है ॥
वही भव्य संसार क्या भार है।
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ॥

यहीं प्रेम है, द्रोह भी है यहीं,
यहीं ज्ञान है, मोह भी है यहीं।
यहीं पुण्य है, पाप भी है यहीं,
यहीं शान्ति है, ताप भी है यहीं ॥
कहो क्या तुम्हें आज स्वीकार है।
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ॥

—श्री रामकृष्ण दास

अनन्त श्री सद्गुरुदेवजी महाराज का

जन्म-दिवस समारोह

तथा

योग-साधकों का अभूतपूर्व सम्मेलन

इस वर्ष विश्वनाथपुरी काशी में दि० २५-९-८७ से ३ अक्टूबर, ८७ तक उत्तर-भारत के सुविख्यात सिद्धयोगी योगयोगेश्वर अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का जन्म-दिवस समारोह तथा इसी उपलक्ष में योग-प्रेमी साधकों का सम्मेलन एवं सायं-प्रातः दोनों समय सार्थक योग-प्रचार कार्यक्रम का आयोजन बड़ी ही सफलता के साथ आरम्भ होकर सम्पन्न हुआ। पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी महाराज अपने आश्रम के अनेक प्रिय ब्रह्मचारियों के साथ कुरुक्षेत्र के कुम्भ-स्नान के बाद वहाँ से सीधे ही नियत समय और तिथि पर काशी जा पहुँचे थे। काशी में जन्म-दिवस समारोह और योग-प्रचार कार्यक्रम के आयोजन की अनुमति वहाँ के प्रतिष्ठित एवं प्रख्यात एडवोकेट श्री आत्माप्रसादसिंह तथा उनके सहयोगी काशी निवासी योग-साधकों ने पूर्व से ही प्राप्त करली थी। गुरु-देवजी के पहुँचने पर बड़े ही हर्ष-उल्लास पूर्ण वातावरण और जय-जयकारों की ध्वनियों के बीच में उनका हार्दिक स्वागत किया गया तथा उन्हें श्री सिंह महोदय ने पूर्व निर्धारित अपने एक सुसज्जित भवन में ठहराया। गुरुदेवजी के इस आवास के निकट ही एक खुले मैदान में उनके प्रवचन की सुचारु रूप से व्यवस्था की गई थी। वहाँ एक सुन्दर मञ्च पर महाप्रभु श्रीरामलाल जी के रूप की प्रतिष्ठापना की गई थी, तथा श्री गुरुदेवजी एवं उनके पास अन्य आगत-वक्ताओं और ब्रह्मचारियों के बैठने की सुन्दर व्यवस्था भी की गई थी।

योग-प्रचार कार्यक्रम प्रातः और सायं दोनों समय महाप्रभुजी की सामूहिक आरती के साथ प्रारम्भ होकर समाप्त होता रहा। प्रातःकाल का कार्यक्रम श्री गुरुदेवजी द्वारा गीता-पाठ और उसकी सुबोध व्याख्या से समन्वित रहता था। मध्याह्नोत्तर में महिला सत्संग तथा संकीर्तन और संगीत के हृदय-ग्राही कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते रहे। सायं कालीन श्री सद्गुरुदेवजी के महत्वपूर्ण प्रवचन प्रायः योगांगों की महत्ता और महाप्रभुजी की योग-परक लीलाओं से सम्पन्न रहते थे। जन्म-दिवस समारोह में भाग लेने आये हुए श्री गुरुदेवजी के कई विद्वान शिष्योंके महत्व-पूर्ण योग-प्रवचन भी सुनने का अवसर श्रोता-समूह को प्राप्त हुआ। इनमें श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री एवं आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा जी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आगरा के प्रख्यात संगीतज्ञ पं० सोमदत्त शर्मा के आध्यात्मिक भजनों को सुनने का अवसर भी जनता को श्री गुरुदेवजी ने प्राप्त कराया।

बनारस के इस योग-प्रचार कार्यक्रम और

अपने आराध्य श्री गुरुदेवजी के जन्म-दिवस एवं अभिषेक-समारोह में भाग लेने के लिये सवाई आश्रम से सम्बन्धित प्रायः सभी राज्यों और प्रमुख नगरों के योग-प्रेमी भाई-बहन भारी संख्यामें पहुंचे थे। दिल्ली, पंजाब हरियाणा, हिमाचलप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार जैसे सुदूर राज्यों से तथा उत्तरप्रदेश के झांसी, इलाहाबाद, मिर्जापुर, कछवा, लखनऊ, गोरखपुर, आगरा आदि सभी प्रमुख जिलों के गुरु-भाई बहनों ने लम्बी दूरीकी असुविधा-पूर्ण रेल और बस यात्राओं के बावजूद बड़े ही हर्ष और उल्लास के साथ समारोह में सम्मिलित होकर ज्ञान-लाभ लेने का सुयोग प्राप्त किया। बनारस नगर और जिले के अंचलों से आये गुरु-भाई बहनों की संख्या भी कम नहीं थी। उनका तो यह अपना समारोह था ही।

इन सभी समागत गुरु-भाई-बहनों के आवास और भोजन की व्यवस्था आयोजकों की ओर से निःशुल्क की गई थी। बनारस के मुख्य रेल्वे स्टेशन के समीप ही श्रीकृष्ण धर्मशाला का विशाल भवन पहले से ही इस हेतु आरक्षित करा लिया गया था, जिसमें नल, बिजली आदिके सभी आवश्यक साधन सुलभ थे। भोजनादि की व्यवस्था भी इसी धर्मशाला के विशाल प्रांगण में चलती रही। समारोह के मुख्य आयोजक श्री आत्माप्रसाद सिंह और आयोजन समिति के उनके साथी सदस्यों ने इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा कि किसी भी आगत भाई-बहन को किसी भी प्रकार की कोई असुविधा न हो। धर्मशाला के प्रबन्धकों ने भी व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाये रखने में अपना पूरा-पूरा सहयोग प्रदान किया।

श्री गुरुदेवजी का आवास तथा कार्यक्रम एवं प्रवचन-स्थल धर्मशाला से थोड़ी ही दूर मुहल्ला नदेसर में था, जहाँ सारी व्यवस्था की देख-रेख स्वयं श्री सिंह तथा उनके परिवारीजनों और सहयोगियों ने संभाली हुई थी। काशी के जन्म-दिवस समारोह विजयदशमी १९८७-की स्मृति एक पावन-पर्व के रूप में सहस्राधिक साधकों के हृदय-पटल पर चिरकाल तक बनी रहेगी। जिस श्रद्धाभक्ति समन्वित भाव धारा का वेग यहां गुरु-पूजन के लिए एकत्र हुए साधक-समूह में देखने को मिला, उसका यथावत् वर्णन कैसे किया जाय। 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' जैसी स्थिति थी इस प्रत्यक्षदर्शी की। अपने परम आराध्य गुरुदेव को गंगाजल, दूध, दधि और मधु से स्नान कराने वाले साधकों की लम्बी-लम्बी कतारों में बड़ी भारी भीड़ को देखकर समारोह के कार्यक्रम उद्घोषक को विवश होकर यह अपील करनी पड़ी कि श्री गुरुदेवजी की व्यस्तता, समय का अभाव और उनके स्वास्थ्य को देखते हुए स्नान कराने वाले सभी भाई-बहन केवल प्रतीक रूप में ही अपने-अपने दुग्ध-पात्रों से उनके चरणों पर ही कुछ बूंदें डालकर अपनी मनोभिलाषा की पूर्ति करलें। किन्तु अधिकस्य अधिकं फलम्, की उक्ति का ही आश्रय बहुधा भाई-बहनों ने लिया। मधुर वाद्य-वृन्द ध्वनियों ने गुरुदेव के अभिषेक और पूजन के आज के कार्यक्रम को अधिक आकर्षक और आह्लाद-परक बना दिया था।

(शेष टाइटिल पृष्ठ ३ पर)

योग-साधना का मूल आधार

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

योगी महात्माओं की अचिन्मय एवं अलौकिक शक्ति सामर्थ्य देखकर, सुनकर या पढ़कर हर व्यक्ति योग का जिज्ञासु बन जाता है। किन्तु बहुत कम लोग योग अभ्यास करने में प्रवृत्त हो पाते हैं। कुछ लोग यदि प्रवृत्त हो भी गये तो कुछ दिन बाद बाह्य संसारी आकर्षणों के वशीभूत होकर फिर लौटकर जहाँ से चले थे वहीं लौट जाते हैं। कोई-कोई साधक तो दो कदम आगे चलने का प्रयास भी नहीं करना चाहते। बस अपनी यथा स्थिति से सन्तुष्ट रहकर जो कुछ प्राप्त हो गया उसे ही अपनी नियति स्वीकार कर जहाँ के तहाँ बने रहते हैं। कोई-कोई माई का लाल योगयुक्ति को समझकर पूर्ण पुरुषार्थ से श्री गुरुदेव की करुण-कृपा का वरण करके साधना में कमर कस के लग जाता है, वह अपने को निहाल कर पाता है। योग-साधना में सफलता न मिलने का सबसे बड़ा कारण साधक में आलस्य तथा क्रियाओं में अभ्यास की कमी एवं योग के विरोधी उपायों में मन का आसक्त रहना है। मन की आसक्ति विश्वास और श्रद्धा के अभाव में बढ़ती रहती है। श्रद्धा और विश्वास जितने-जितने सबल होते जाते हैं, उतना ही वैराग्य बढ़ता जाता है। अभ्यास और वैराग्य तपस्या तथा गुरु-कृपा इकट्ठे हो जाते है वहाँ पर योग सिद्धि अवश्य दिखाई पड़ने लगती है। जैसे कोई किसान खेती तो करता हो लेकिन पर्याप्त अन्न उत्पन्न न कर पाये तो उसे अच्छा किसान नहीं कहा जा सकता। जो किसान उत्तम भूमि में अच्छे बीज को उचित समय पर भली-भाँति बोता है तथा उसमें समय-समय पर खाद पानी देता रहता है और हानि पहुँचाने वाले प्राणियों से फसल की रक्षा करता रहता है, उसी की फसल अच्छी पैदावार देती है। इन बातों में यदि एक भी वस्तु कम रही तो फसल अच्छी नहीं हो सकती।

प्रायः व्यक्ति प्रारम्भ में बड़ी लगन से साधना में प्रवृत्त होते है किन्तु कुछ दिन बाद वे आलसी और निरुत्साही देखे जाते हैं। अधिकांश लोगों के साथ यहाँ तक भी होता है कि कर्मप्रवाह से उनके सुख और चैन कम होने पर उनके मन में गुरुदेव और मन्त्र के सम्बन्ध में सन्देह होने लगता है। कुछ लोग गुरु को तिलांजलि भी दे बैठते हैं। कुछ साधक किसी नये गुरु और तुरन्त सिद्धि देने वाले मन्त्र की तलाश में लग जाते हैं। कुछ साधक स्थान-स्थान पर जो भी चमत्कार युक्त दिखाई पड़ता है उससे दीक्षा और मन्त्र लेकर कुछ दिन उसका प्रभाव देखते हैं। यदि कुछ हाथ नहीं लगता तो फिर नये गुरु की तलाश में निकल पड़ते हैं। इस प्रकार गुरु की परीक्षा लेते-लेते उनकी आयु पूरी हो जाती है। उन साधकों की स्थिति ऐसे व्यक्ति की सी है जिसे किसी ने बता दिया था कि

इस जमीन में बीस हाथ तक खोदने से पीने का पानी मिल जायेगा। उसने खोदना शुरू किया और बीस हाथ खोदकर देखा कि वहाँ पानीका कोई लक्षण नहीं है, वह विचार करने लगा, यदि पानी होता तो कुछ तो उसकी झलक यहाँ भी मिलती। चलो, दूसरी जगह खोदते हैं। और वह दूसरी जगह पाँच हाथ खोदकर उसी तर्क-वितर्क में पड़कर अपना इरादा बदल देता है। वह अलग-अलग मिलाकर बीस हाथ तो खोदता है किन्तु पानी प्राप्त नहीं कर पाता। यदि एक ही स्थान पर धैर्यपूर्वक बीस हाथ खोद लेता तो उसे पानी मिल सकता था। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव कहते हैं कि 'तीव्र संवेगानाम् आसन्नः'—अर्थात् जो तीव्र लगन के साथ अभ्यास में लगे रहते हैं उन्हें योगसिद्धि शीघ्र हो जाती है। इसके विपरीत जो भूले भटके जब मन में आया जप और ध्यान में प्रवृत्त हो गये और जब चाहा उसे छोड़ बैठे, उनको शीघ्र समाधि लाभ नहीं हो पाता। वस्तुतः शिष्य की श्रद्धा चुम्बक की तरह शक्ति को खींचा करती है। जो अपने नियम और लगन का जितना पक्का होगा उसको शक्ति उतना ही अधिक साथ देगी। वेद में भी कहा गया है कि उद्यमी और उत्साही व्यक्ति के देवता मित्र होते हैं और आलसी का मित्र काल होता है।

❀ हमें इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि ग्रन्थ कभी धर्म को नहीं गढ़ते, धर्म ही ग्रन्थों को गढ़ते हैं। कभी किसी ग्रन्थ ने ईश्वर की सृष्टि नहीं की; परन्तु हर महान् ग्रन्थ की सृष्टि की मूलभूत प्रेरणा अवश्य ही ईश्वर है। इसी तरह हमें यह भी न भूलना चाहिए कि किसी पुस्तक ने आत्मा की सृष्टि नहीं की। हर धर्म का परम उद्देश्य यही है कि आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन किया जाय। यही एकमात्र सार्वभौमिक धर्म है। अगर सभी धर्मों में कोई एक सर्व व्यापी सत्य है तो मैं कहूंगा कि वह है ईश्वर को पाना। आदर्श और साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर मौलिक तथ्य यही है। त्रिज्यायें हजारों हो सकती है पर वे सभी आकार एक केन्द्र-बिन्दु पर मिलते हैं और वह केन्द्र है ईश्वर प्राप्ति, जो हमारी इन्द्रियों की दुनिया से परे है। खाने-पीने और निरर्थक बकवास की दुनिया से तथा झूठी विडम्बनाओं एवं स्वार्थ की दुनिया से परे है।

❀ धर्म से ही अर्थ (ऐश्वर्य) मिलता है, धर्म से ही सुख मिलता है और धर्म से ही अन्य जो कुछ भी अच्छा है वह सब मिलता है। धर्म ही विश्व का एकमात्र सार है। संसार में ही सत्य ईश्वर है, सत्य में ही सदा धर्म रहता है, सत्य ही सब अच्छाइयों की जड़ है, सत्य से बढ़कर और कुछ नहीं है। —स्वामी विवेकानन्द

गीता-दर्शन

❀ डा० सुशीला मीतल

गीता में व्यावहारिक दर्शन का महत्व-पूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति और दर्शन की जो समन्वयात्मक व्याख्या गीता में हुई है वह संसार के अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। भारतीय दर्शनकी उत्कृष्ट उपलब्धि के साथ-साथ गीता सम्पूर्ण लोक-जीवन की व्याख्या करती है।

मनुष्य की चिर आकांक्षा है दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति। यह कामना मानवकी ही नहीं वरन् पशु-पक्षियों में, जीव जगत में रहती है। चेतन प्राणी की यह आकांक्षा सभीको ज्ञात है। प्रकृति और परि-स्थितियों के साथ-साथ सुख-दुःख की परि-भाषा बदलती रहती है। इसे समझने की विचार-शक्ति पशु-पक्षियों में नहीं होती, लेकिन मनुष्य में होती है। वह अपने विवेक और बुद्धि से काम लेता है, इसलिये दूरदर्शी होना भी उसका विशेष गुण है।

युगोंसे मनुष्य इस पर विचार और मनन करता आया है और आज भी वह ऐसी स्थिति की खोज में है, जिससे सच्चा सुख और मुक्ति मिल सके, उसे मुक्ति की प्रतीक्षा न करनी पड़े, अर्थात् जीवन-कालमें ही दुःख से निवृत्ति हो जाय। इसके लिए सुख-दुःख के यथार्थ रूप, उसके मूल कारण, सम्बन्ध तथा प्रभाव पर विचार करना पड़ता है। वह कैसा है? इसे समझना पड़ता है। गीता सांसारिक दुःखोंको समझाने और जीव जगत्के सम्बन्धों का विवेचनात्मक ज्ञान कराने के लिए अद्वि-तीय है। यह जगत् क्या है? जीव क्या है? आत्मा क्या है? मैं क्या हूँ और इस जगत् से मेरा क्या सम्बन्ध है? इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्नों का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए गीता मार्ग-दर्शन करती है। इतना ही नहीं इस जगत्की विविध-तायें, नाना प्रकार के सुख और दुःख, जीवन से उनका सम्बन्ध, परिस्थितियों के साथ उनको समझने का ज्ञान और मुक्ति का मार्ग भी गीता के अध्ययन और मनन से सहज ही प्राप्त हो जाता है। ये सभी बातें मनुष्य की उस जिज्ञासा का उत्तर देती है, जिनमें वह जन्म लेते ही उलझ जाता है और अपने अस्तित्व को परखने-समझने का अनवरत प्रयत्न करता रहता है।

संसार में सबसे कठिन है अपने आपको समझना, इसके लिए सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन की आवश्यकता होती है। क्योंकि बिना तात्त्विक विवेचनके सत्य के दर्शन नहीं होते और बिना सत्यको समझे जीवन का सही रूप उभरकर सामने नहीं आ पाता, मनुष्य किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सकता। अतः सत्य को परखने पर समझने के लिए मनन-चिन्तन की आवश्यकता होती है और ऐसे वैचारिक चिंतन को ही व्यावहारिक दर्शन या (प्रैक्टि-कल फिलासफी) कहते हैं।

आर्यों की प्राचीनतम चिन्तन प्रणाली अध्यात्मकी चरम उपलब्धि है। वह अध्यात्म दर्शन से इस निर्णय पर पहुंचे थे कि नाना भावापन्न प्रतीत होने वाला यह जगत् वस्तुतः

एक ही सत्य, सनातन आत्मा के अनेक रूपों का भाव है, अर्थात् एक ही सनातन आत्मा अनेक भावों में व्यक्त होकर जड़-चेतन में प्रतिबिम्बित हो जाता है। यह आत्मा की सर्वज्ञता और शक्ति को सिद्ध करता है। अर्थात् जगत् के नानत्व का असत्य एक परब्रह्म से प्रतिम्बिबित है, सत्य प्रतिबिम्ब नहीं बल्कि प्रतिबिम्बित करने वाला है और आर्य संस्कृति या हिन्दू संस्कृति तथा दर्शनका यही तत्त्व-ज्ञान है। जो भारतीय दर्शन के नाम से विश्व-विख्यात है।

मानवीय मर्यादाओं की व्याख्या ही राजा मनु के धार्मिक विचारों का मूल स्रोत रहा, मनुस्मृति में जो धर्म-अधर्म की परिभाषाएँ हैं, उन्हें अखिल विश्व ने स्वीकार किया है। वह किसी देश या जाति के लिए नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव जगत् के लिए हैं। इस मानवी परम्परा का प्रादुर्भाव ऋषियों से हुआ, इस क्रममें शुकदेव, राजा जनक, जाजलि ऋषि तथा शूद्र सूत इत्यादि आते हैं। महाभारत और पुराणों की कथाओं में वह सभी उपदेश संग्रहीत हैं और मानवीय की प्रखर ज्योति सारे संसार को पथ-प्रकाशित करती रहती है।

पुराण कथाओं के अनुसार व्याध चाण्डाल से तपस्वी कौशिक ब्राह्मण ने धर्म का उपदेश ग्रहण किया। व्याध वाल्मीकि रामायण के रचयिता आदि कवि हुए। धनुर्विद्या के आचार्य द्रोणाचार्य, ब्राह्मण क्षत्रिय सेना के प्रधान सेनापति हुए। राजा ययाति ने दैत्य-कन्या शर्मिष्ठा और ब्राह्मण-कन्या देवयानी दोनों के साथ विवाह किया। उनकी संतानों में कोई अन्तर नहीं रहा। इस प्रकार निषाद, भीलनी, व्याध, चाण्डाल, पशु-पक्षी आदि पापयोनि कहलाने वालोंसे भेदभाव न रखकर स्तोत्रोंमें विशेष रूपसे गायन हुआ है। पतित-पावन विशेषण भगवान् को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है, सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता सदा कट्टरता रखना आवश्यक नहीं समझते थे और न वे किसी रूढ़ि के गुलाम थे। किन्तु आध्यात्मिक समत्व के मनीषियों ने 'सर्व धर्मान् परित्यज्य' स्पष्ट घोषित कर बुद्धि योग की महत्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है।

वर्तमान का मानव-समाज विश्रृंखल एवं पतनोन्मुख हो गया है। लोग सांसारिक सुखों की ओर अन्धे होकर दौड़ रहे हैं। एक अजीब-सी होड़ लग गई है कि इस वसुधा के सारे सुखों को कौन समेट ले। इस होड़ में व्यक्ति, समाज, सरकार सभी अग्रणी हैं। लोकतन्त्र के नायक भी सत्ता की कुर्सी का मोह नहीं त्याग सके और मानवीय मर्यादाओं के विरुद्ध आचरणों का बोलबाला हो गया। लोभ, स्वार्थ, द्वेष ने सुरसा के समान मुँह बनाकर आज के मानव-समाज को अपने गाल में दबा लिया है। लेकिन यह सब हुआ क्यों और कैसे ?

जब हम युगों पूर्व अपने इतिहास को पलटते हैं तो पता चलता है कि पृथ्वी पर जब जनसंख्या अधिक बढ़ जाती है, मनुष्य अपने सुख-स्वार्थों में डूब जाता है तो लोभ और स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ अपने दायरेसे बाहर

नहीं झाँकने देतीं । भौतिक क्षणिक सुखों को समेट लेने के लिए अहंकार और स्वार्थ एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर अपना पासा फेंकने लगते हैं । इस स्वार्थ और लोभवश द्वेष, मत्सर जैसे तामसी विचार आसुरी प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करते जाते हैं । समाज में चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य छा जाता है । दुःख अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं । तब उनसे छुटकारा पाने के लिये तिलमिलाहट होती है, ऐसी विषम परिस्थिति में धर्म के उपदेश सात्विक पथ का निर्देश कर अधर्म की प्रवृत्ति से छुटकारा दिलाने में सहायक होते हैं । इसी स्थूल रूप से समझने के लिए कहा जाता है कि पृथ्वी पर पाप बढ़ने से पृथ्वी भार से अकुलाकर देवताओं की शरण जाती है । देवगण जगत् पालनकर्त्ता सात्विक देव विष्णु का आवाहन करते हैं । विष्णु अवतार लेकर पृथ्वी का बोझ हरण कर धर्मको पुनः स्थापित करते हैं । इस विषय की असंख्य आख्यायिकायें भारतीय पुराणोंमें संग्रहीत हैं, जिनमें राम-रावण का युद्ध, नरसिंह अवतार, हिरण्यकश्यपु वध, वाराह अवतार, मत्स्य अवतार इत्यादि प्रमुख तथा जगविख्यात हैं ।

आत्म-बल से क्षीण व्यक्ति भौतिक बल से कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो गया हो और तपादि से उसने शारीरिक कष्ट झेलकर मायावी शक्तियों से भले ही ऐश्वर्यवान् हो गया हो । विलक्षण बुद्धिमान से निपुण उच्च वर्णका ही क्यों न हो, भौतिक सुख, समृद्धि और शक्तियों की पराकाष्ठा पर ही क्यों न पहुंच गया हो, लेकिन तामसी प्रकृति और आसुरी आचरणों से उसका सर्वनाश ही हो जाता है । शुम्भ-निशुम्भ, रावण, हिरण्यकश्यपु कंस इत्यादि का अन्त इसी प्रकार हुआ ।

महाभारत युद्धमें बहुसंख्यक सेना कौरवों को देकर श्रीकृष्ण निःशस्त्र पाण्डवों के साथ हो गये । अधर्मी कौरवों की हार और पांडवों की जीत यह सिद्ध करती है कि स्थूल भौतिक शक्तियों को सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति काट देती है । सत्य और असत्य में यही महत्वपूर्ण अन्तर है । सत्य स्थायी, अपरिवर्तनीय है, असत्य अस्थायी तथा परिवर्तनशील है । हमारे सामने जो है वह असत्य है, परिवर्तन-शील है, इस प्रकार भौतिक उत्कर्ष और शक्तियाँ अनेक होते हुए भी अस्थायी और परिवर्तनशील हैं । अस्थायी और परिवर्तन-शील का विनाश होना सुनिश्चित है, जबकि सत्य एक है, सनातन है, अभेद्य, अबाध्य है, अपरिवर्तनीय है, अस्तित्वपूर्ण है ।

विदेशी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से स्वीकारते हैं कि गीता की बराबरी का कोई भी शास्त्र संसार में उपलब्ध नहीं है ।

इक प्रकार ज्ञानरूपी प्रकाश को लिये हुए भारतीय-दर्शन युगों से प्रकाशपुञ्ज बना हुआ है, विश्व मानव-समाज उसके पीछे चलता रहा है । संसार के सामने भारतीय संस्कृति सदा ही मस्तक उठाये खड़ी रही है । आत-तायियों और विदेशी शासकों ने भी भारतीय लोक-दर्शन को गरिमा को महसूस किया, अपनाया और मानवीय मर्यादाओं को समझ

कर नीतियों का अनुसरण किया। इतिहास से पता चलता है कि भारतीय आत्म-बल और संस्कृतिको कोई परास्त नहीं कर सका, इसलिये आर्य संस्कृति आज भी अपना प्रभुत्व बनाये खड़ी है, जबकि अनेकानेक संस्कृतियों का उद्भव-विकास और ह्रास हो गया।

जीवनमें विषमतायें हमने अपनी इच्छाओं से उत्पन्न की हैं। भौतिक सुखों की ओर हम अन्धे होकर दौड़ रहे हैं। एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर प्राप्त करने की होड़ से मोहाच्छादित हैं। हमारे सभी प्रयास एक-दूसरे से अधिक सुखी, समृद्ध, सुविधापूर्ण और शक्ति-सम्पन्न होने के लिए होते हैं। हम इसी को जीवन की सफलता और सुखों का आधार मानते हैं। अत: अपने स्वार्थ साधनों के लिए हम दूसरों को दबाने, गिराने या कष्ट देने में प्रयोग करते हैं। यह आपसी छीन-झपट, द्वेषपूर्ण प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है, जो आज के मानव-समाज पर हावी होती जा रही है। द्रष्टा कर्ता को नहीं देख पा रहा है, अत: हमारे सारे क्रियाकलाप आदि शोकर तक ही सीमित हैं। यह हमारी विचार-शक्ति तथा संकल्प-शक्ति की दुर्बलता है, हमारा अज्ञान है।

कर्म चाहे मानसिक हों या शारीरिक, वे अपने आप सम्पादित नहीं होते। चेतन के निर्देश पर सम्पादित नहीं होते हैं। चेतन ही आत्मा है जो सर्वज्ञ है तथा शारीरिक, मानसिक कर्मों का संचालक है। शरीर और इन्द्रियों के ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। जिनका मन बुद्धि के वश में न रहकर इन्द्रियों के अधीन हो जाता है, वह आत्मा से उतना ही विमुख हो जाता है। बुद्धि सात्विक है। बुद्धि जितनी सात्विक होती है उतनी ही सूक्ष्मदर्शी होती है। मन को नियन्त्रित तथा संचालित करने में सक्षम होती है। तात्विक विश्लेषण एवं विवेचन करने में स्वतन्त्र होती है। यदि उसकी सात्विक वृत्ति में कहीं खोट है तो मन को संयमित करने में सक्षम नहीं होगी। इन्द्रियाँ मन पर विजय प्राप्त कर असत्व की ओर अग्रसर कर देंगी।

इस सन्दर्भ में एक लघु कथा आती है। किसी राजा ने मनो विनोद के लिए स्वेच्छा से राजधानी से दूर एक प्रासाद का निर्माण करवाया। वहीं जाकर रहने लगा, वहाँ मनोविनोद करने वाले दृश्य, भाँति-भाँति की सामग्रियाँ, प्रशंसनीय वस्तुयें तथा विलास के सभी साधन उपलब्ध थे। राजा कुछ ही समय में उनमें उलझ गया और इस विलास भूमि में आमोद-प्रमोद करते हुए अपने साम्राज्यको भूल गया। उसका भोग-विलास इतना बढ़ा कि इन्द्रियाँ भौतिक सुखों से चालित होती गयीं। राजा अपना ऐश्वर्य भूल कर साधारण जीव की भाँति ऐश्वर्यहीन होता गया और इन्द्रियों का दास हो गया। पहले वह शारीरिक इन्द्रियों के प्र हार में आया और बाद को साम्राज्य की इन्द्रियाँ भी उस पर हावी हो गईं। वह अपने ही

कर्मचारियों के अधीन हो गया।

यदि वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर राजधानी में लौट आया होता तो उसके साम्राज्य की इन्द्रियाँ स्वतन्त्र एवं स्वेच्छाचारी न होने पातीं और वह ऐश्वर्य-हीन न होने पाता। यही सत्य है हमारी आत्मा और शरीर का, शारीरिक इन्द्रियों के वश में होकर हम आत्मा से विमुख हो जाते हैं।

यही हाल प्रत्येक जीवधारीका है। आत्मा रूपी साम्राज्य से दूर आकर शारीरिक सुखों की इच्छाओं से इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने ही अस्तित्व को नकार देता है। धीरे-धीरे इन्द्रियाँ क्षीण होती जाती है, और मन निरंकुश हो जाता है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है, या उसमें इतनी दूरी आ जाती है जिसमें समन्वय स्थापित नहीं हो पाता। जो इस शरीर का स्वामी है उसे बिसारकर इन्द्रियों के कर्मों के आधीन हो जाने से मनुष्य अपना दास हो जाता है, अकर्मण्य हो जाता है। कर्तव्याकर्तव्यों का ध्यान न रहने से मनुष्य चेतन होकर भी जड़ रह जाता है।

सृष्टि का यह प्रत्यावर्तित क्रम निरन्तर चलता रहता है, अनन्त काल से चला आ रहा है, जनसाधारण विविध प्रकार के सुखों की अनुभूतियों को महत्त्वपूर्ण समझकर उन्हीं में उलझा रह जाता है। वह नहीं समझ पाता कि जहाँ सुख होगा वहाँ दुःख भी सुनिश्चित है, और फिर सुख-दुःख के फला-फल भी सुनिश्चित है, जो भोगते ही रहना पड़ता है। क्योंकि कर्म और फल का जोड़ा है, कर्म से फल और फल से कर्म का जन्म होता रहता है। यह प्रक्रिया प्रकृति की सनातन है, और जीव जगत इसके चक्कर में अपने से विमुख बना रहता है। परतन्त्र रहता है। लेकिन जिस क्षण अपना यथार्थ अनुभव कर लिया जाता है, उसी क्षण सारे दुःखों का अन्त हो जाता है और अपने आप में पूर्णत्व प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्ष निकलता है 'अपना आप' सच्चिदानन्द आत्मा, नित्य, सर्वव्यापक और सम है, सत्य है, स्वामी है। फिर भला भिन्न-भिन्न कल्पित पदार्थ अथवा जीव, जो परिवर्तनशील है सत्य कैसे कहे जा सकते है ? गर्भाधान से शिशु, बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्धावस्थाएँ हो जाती है, यही क्रम वनस्पतियों के विकास और ह्रास में लागू होता है। कालचक्र भी इसी क्रम से चलता है, सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, और ऋतुओं का भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता ही रहता है। मनुष्य प्रकृति से अनुकूल परिस्थितियों को सुख और प्रतिकूलता को दुःख समझता है। न सुख स्थिर है न दुःख, और जब दोनों ही स्थिर नहीं हैं तो उनका अस्तित्व कैसे रह सकता है ! प्रतिकूल परिस्थितियाँ मनुष्य को कष्टदायी होती हैं। अतः उनका क्षणिक काल भी लम्बा मालूम पड़ता है और सुखद परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं अतः लम्बा काल भी आसानी से बीत जाता है, हम उसे छोटा

समझ लेते हैं। यह हमारी अल्पज्ञता नहीं तो और क्या हो सकती है ?

जब सुख-दुःख की स्थिरता नहीं, तो उसका अस्तित्व भी नहीं, और जिसका अस्तित्व नहीं वह सत्य हो ही कैसे सकता है ? इसलिए आप ही सत्य हैं, पूर्ण हैं, स्वामी हैं, सनातन हैं, सच्चिदानन्द हैं।

उसी सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग को श्रेष्ठ बताया है। बुद्धि से काम लेने के लिए बार-बार जोर दिया है। यहाँ तक कि अपने इस उपदेश पर भी भली-भाँति विचारकर कर्म करने को कहा है। (गीता अध्याय १८ श्लोक ६३)।

गीता का उपदेश मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए भगवान का दिया हुआ है, और ऐसा उपदेश परमात्मा या योगी ही दे सकता है; क्योंकि व्यष्टि रूप से जीवात्मा और समष्टि रूप से परमात्मा माना जाता है।

गीता यथार्थ कथन है। अर्जुन ने लोक-व्यवहार से खिन्न और विषादयुक्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण से श्रेयस्कर उपाय पूछा, तो भक्तवत्सल ने अर्जुन को लक्ष्य करके कहा—आत्मज्ञान से युक्त कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था लोक-व्यवहार और परिस्थितियों के अनुकूल होती है। मनुष्य समाज का अङ्ग है, उसे मानवीय मर्यादाओं के अनुसार सुव्यवस्था और लोक-व्यवहार को ठीक-ठीक समझकर कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। विषम परिस्थितियों को समझना और उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म का निर्णय उसे अपनी बुद्धि से ही करना पड़ता है। मोहग्रस्त व्यक्ति आत्मज्ञान विहीन होता है। अर्जुन भी मोहग्रस्त होकर विषाद में किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। तब उसका मोह काटने के लिए सनातन निर्विकार और अविनाशी, भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मज्ञान देकर अर्जुन के मानस से मोह के बादल छाँट दिये।

गीता में आत्मज्ञानयुक्त जिस सिद्धान्त और समाधि का प्रतिपादन है उसमें साम्य भाव होना चाहिए। समाधि केवल चित्त का निरोध ही नहीं बल्कि जीवमात्र में साम्य-भाव रखने का निर्देश है। जो कुछ गोचर है वह अन्तर का प्रतिबिम्ब मात्र है।

किन्तु आत्मा का वास्तविक रूप अति सूक्ष्म होने से लोगों का मन कठिनता से एकाग्र होता है। इस विषय को सुगम करके सर्वसाधारण के लिए भगवान ने भक्ति-उपासना का विधान बताया है। साम्य भाव के आचरण द्वारा शरणागत होना कहा है। भगवान् को सर्वव्यापक समझकर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ देना है। इसमें आडम्बर नहीं सहज और सत्य को अपनाना है, जिससे भिन्नता का मिथ्या भाव मिट जाता है। मैं कर्ता हूँ, मेरे ही करने से कार्य होता है, आदि अहङ्कारमूलक भाव समाप्त हो जाते हैं क्योंकि भगवान् ने कहा है तू साधन है, कर्ता मैं हूँ।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा और समझा जाय तो व्यक्ति में केन्द्रित ममत्व ही माया

है। ममत्व का तात्पर्य आसक्ति, इसी आसक्ति का अनन्य भाव रखकर आत्मा अपने प्रति-बिम्बों के साथ एकीकरण स्थापित करता है।

कामना, त्याग, निष्काम कर्म का अर्थ स्वार्थहीन होकर सबके हित के साथ अपना हित भी साधन करना, और इसी उद्देश्य से कर्मरत रहना है। भगवान् श्रीकृष्ण ने त्याग, वैराग्य का अर्थ समझाते हुए कहा है—अपने आपमें ही समा जाना, अपनी आत्मा को विचलित न होने देना और अखिल सृष्टि के साथ अपनी आत्मा का समन्वय स्थापित करना, इन सबका अपने को स्वामी समझना ही आत्मज्ञान है, अपने में परिपूर्णता है, और ऐसी स्थिति में हीनता-दीनता की भावनाएं लुप्त हो जाती है। पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है और यही ज्ञान परब्रह्म के साथ जोड़ देता है जो मोक्ष का पर्याय है।

मिथ्या विषयी सुखों की मृग-तृष्णा में भटकना नहीं पड़ता, अखिल सुख-सम्पत्ति का अक्षय भण्डार अपने में ही समा जाता है, और गीता का यह दर्शन व्यक्ति-समष्टि का भेद मिटा देता है।

संसार के सारे क्रिया-कलाप श्रद्धा और विश्वास पर चले हैं। वास्तविक श्रद्धा अपने आत्म विश्वास की है। यहाँ श्रद्धा से आशय अन्ध विश्वास से नहीं बल्कि विवेचनात्मक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए बुद्धि का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक प्रयोग कर उचित-अनुचित को समझना और कर्तव्य करना है। इसीलिए गीता में कहा गया है—मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि बुद्धि से काम ले।

कई विचारकों का कहना है, दैवी आसुरी वृत्तियों का संघर्ष प्रत्येक शरीर में होता है। इसी को भारतीय युद्ध का रूपक देकर कृष्ण-रूपी ईश्वर ने अर्जुनरूपी जीव को गीता का उपदेश दिया। सारा जगत मन की कल्पना है, खेल है, वास्तव में व्यावहारिक सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन है, चाहे वह अर्जुन-कृष्ण सम्वाद ऐतिहासिक हो, चाहे काल्पनिक, उसमें व्यवहार का दर्शन हो मुख्य है अर्थात् यथार्थ कथन ही मुख्य है।

महाभारत पर ही दृष्टिपात कीजिये—युद्ध भूमि में कर्मवीर अर्जुन को मोह और शोक ने किस प्रकार घेर लिया और उन प्रसंगों पर मोह-शोक की छाया हटाते हुए भगवान ने उसे सही मार्ग दर्शाया। वास्तव में अर्जुन को साधन बनाकर आत्मज्ञान का व्यावहारिक रूप स्पष्ट कर दिया, जिसकी आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य के जीवन में होती है। मनुष्य समाज का प्राणी है, उसकी सुव्यवस्था की बागडोर उसे अपने ज्ञान और अनुभव पर ही सम्भालनी पड़ती है। शिक्षा, रक्षा, व्यवसाय और सेवा का भार उसे किस प्रकार उठाना चाहिए ? जीवन से सम्बन्धित अनन्त कर्मों का उचित-अनुचित ज्ञान किस प्रकार करना चाहिए ? मोह, शोक, द्वेष जैसे मनोवेगों के सही रूप को कैसे समझना चाहिए ? न्यायसंगत संघर्ष के लिए कमर

फंसकर युद्ध भूमि में क्यों उतर आना चाहिए, इत्यादि जटिल प्रश्नों के उत्तर गीता के अध्ययन और मनन से स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं।

गीता में कर्मफल की आशा और त्याग की भावना से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य मात्र इस संसार में साधन मात्र है, साधक कोई और है और इसी 'और' की खोज आत्मा की खोज है, सत्य की खोज है और यही निरंकार को साकार में समझने का प्रयास है। निरंकार से साकार को देखना तभी सम्भव है जब मन पर विजय प्राप्तकर वैराग्य एवं अनासक्ति को अपनालिया जाय।

निष्काम कर्म से तात्पर्य है कि लोक-व्यवहार और 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' को ध्यान में रखकर कर्मरत रहना। मूर्खों की तरह चेष्टाएँ करते रहना निष्काम कर्म नहीं है।

आध्यात्मिक दर्शन का यह आधारभूत सत्य है कि न हम कुछ हैं और न कुछ हमारा है। इसलिए हम जो कुछ करते हैं, या हमें करना पड़ता है उसके फल भी हमारे नहीं हैं, कर्म भी हमारे नहीं है। यह यथार्थ सिद्ध करता है कि धरती की उर्वरा शक्ति धरती के लिए नहीं है, दूसरों के लिए है। सागर का पानी उसके लिए नहीं है, धरती के लिए है, उसका आलोड़न प्रकृति से सहयोग लेता है, बादलों को साधन बनाता है और धरती पर बरस जाता है। नियति के इस कर्म के पीछे उदात्त भाव है, स्वार्थ नहीं। स्वार्थ सिद्धि की भावना हमारे किसी कर्म के पीछे नहीं होनी चाहिए। तभी वह निष्काम कर्म हो सकता है। जब मनुष्य ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो स्थितिप्रज्ञ हो जाता है और ऐसी स्थितप्रज्ञता प्राप्तकर लेने पर ब्रह्म और व्यक्ति में अन्तर नहीं रह जाता और यही सच्चा सुख या सच्चिदानन्दकी प्राप्ति है।

कहावत है 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' लेकिन जहाँ भिन्न-भिन्न मत निकलकर एकता स्थापित कर दें, व्यक्ति को एक ब्रह्म में लीन करा दें तो जीवन की सफलता के लिए और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। यह सब हमें गीता-अध्ययन, चिन्तन और मनन से प्राप्त हो सकता है, यदि हम अपनी बुद्धि का सही प्रयोग कर सकें, मन पर अंकुश लगा सकें या मन जीत सकें और हमें ऐसा ज्ञान देने वाली गीता ज्ञानोदयी नहीं तो और क्या है?

रावण वेदों का प्रकाण्ड पण्डित था, कहा जाता है कि वेदों को उसने स्वर दिये थे, वह ब्राह्मण था, ऋषि-पुत्र था, शिव-भक्त तथा पराक्रमी भी था, फिर क्यों वह राक्षस बना? उसने अपने जीवन में वेदों को उतारा नहीं था। यही हाल आज के मानवका है कि जानते हुए भी या पढ़ते हुए भी जीवन में उतारते नहीं। ज्ञानमयी गीता को यदि जीवन में उतार लें तो वे महान् कहलाये।

गुरु किसे बनाना चाहिए ?

⊛ श्री केशवदेव उपाध्याय

देवाधिदेव महादेव जगत्पति दयालु सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के युगल-चरणों में कोटिशः प्रणाम के बाद योग-परक घटना का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है। इस घटना में एक नवागन्तुक गुरु-भाई की प्रार्थना के उत्तर में आराध्यदेवजी ने जो आशीर्वादात्मक आदेश दिया था, उसी का समावेश मात्र है। मात्र गुरु-वाणी को यहाँ लिपिबद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है।

एक बार वाराणसी के योग-प्रचार कार्यक्रम में एक दिन एक दम्पति श्री आराध्यदेव तथा सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की कृपा-कथाओं को सुनकर श्री गुरुदेवजी महाराज के चरण-कमलों तक पहुंच गये। देखने से ऐसा लगता था कि वे किसी अच्छे परिवार से सम्बन्धित हैं और किसी अच्छी नौकरी में कार्यरत हैं। काफी देर तक वह दम्पति श्रीप्रभु दरबार में बैठकर उनकी (श्री सद्गुरुदेवजी महाराज की) मनोहर छवि को निहार रहे थे। श्री प्रभुजी के मुखारविन्द का खूब अच्छी प्रकार से दर्शन कर लेने के बाद पत्नी ने अपने पतिदेव को कुछ संकेत दिया और इसके बाद वे दोनों उठे एवं श्री प्रभुजी के चरण-कमलोंमें प्रणाम किया। पत्नी तो प्रणाम करके बैठ गई परन्तु पति हाथ जोड़कर खड़ा रहा। आराध्यदेवजी ने कहा कि कहो लल्ला ! क्या बात है, कुछ कहना चाहते हो? पति ने कहा कि हाँ महाराज ! मैं करीब १५-१६ वर्षों से दुनियाँ में अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक और दैविक कष्टों को झेल रहा हूँ। मेरा मार्ग-दर्शन करने की कृपा की जाय। प्रभुजी ने कहा कि बैठ जाओ लल्ला ! और मेरी बातों को मन लगाकर सुनो। श्री प्रभुजी ने उसके बैठने पर फिर प्रश्न किया कि क्या मार्ग-दर्शन चाहते हो लल्ला ? नवागन्तुक साधक ने प्रार्थना की कि महाराज ! मुझे सही रास्ता बतलाने की कृपा की जाय। श्रीमुख ने आदेशित करना आरम्भ किया कि देखो लल्ला ! एक कहावत है कि—"पानी पीये छान के, गुरु करे जान के।"

अतः तुम भी अपने विचार से खूब अच्छी प्रकार सोच-समझकर सामर्थ्यवान् गुरु की जानकारी प्राप्त कर लो और जब तुम्हें अच्छी प्रकार से जानकारी हासिल हो जाय कि ये अमुक महापुरुष सामर्थ्यवान् गुरु हैं तो उनको अपना गुरु बना लो। उनसे प्रार्थना करके उनके शिष्य बन जाओ। जब तुम्हारा मन बिल्कुल पक्का हो जाय तभी किसी को अपना गुरु बनाना, उसके पहले किसी के बहकावे में आकर गुरु नहीं बना लेना और तुम जब किसी को सामर्थ्यवान् समझकर अपना गुरु बनालो, तबही उनकी आज्ञानुसार

अपनी साधना आरम्भ कर देना। सच्चे गुरु को यह बात खूब अच्छी प्रकारसे ज्ञात रहती है कि उसके किस शिष्य की आध्यात्मिक पढ़ाई कहाँ से आरम्भ करनी है। अतः अपने गुरुदेव की आज्ञाओंका अक्षरशः पालन करना चाहिए।

मुझे इस समय सबाई गाँव के एक पण्डितजी की बात बार-बार स्मरण आ रही है, जो उसी गाँव की प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक थे। उन पण्डितजी की प्राइमरी पाठशाला में एक दिन एक विद्यार्थी ने पढ़ने के लिए अपना नाम लिखवाया। पण्डितजी ने अपने इस बच्चेको पढ़ाना आरम्भ किया। वे कई दिन तक उसे अ, आ, इ, ई पढ़ाते रहे। करीब एक हफ्ते बाद उस विद्यार्थी को ये चारों अक्षर अ, आ, इ और ई याद हो गये। दूसरे हफ्ते पण्डितजी ने उस बच्चे को उ, ऊ, ए और ऐ पढ़ाना आरम्भ किया। जब पण्डितजी इस बच्चेको उ, ऊ, ए और ऐ पढ़ा रहे थे, उसी समय एक दूसरे विद्यार्थी ने उनकी पाठशाला में विद्याध्ययन के लिए अपना नाम लिखवाया। पण्डितजी ने दोनों बच्चों को आमने-सामने बैठाकर एक साथ पढ़ाना आरम्भ किया। पहले बच्चे को वे उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ा रहे थे और बाद में आने वाले बच्चे को अ, आ, इ, ई पढ़ा रहे थे। बाद में आकर अपना दाखिला कराने वाले विद्यार्थी ने पंडितजी से पूछा कि पंडितजी! आप दो प्रकार का क्यों पढ़ाते हैं? आप हमें भी उ, ऊ, ए, ऐ ही पढ़ाइये। पण्डितजी ने कहा कि नहीं बेटा! जब तुम्हें ये चारों अक्षर अ, आ, इ, ई याद हो जायेंगे तब हम तुम्हें भी उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ायेंगे। बच्चे ने कहा कि नहीं पण्डितजी! आप पढ़ाई में बेईमानी कर रहे हैं? यह बच्चा हमसे पढ़ने में ऊँचा थोड़े ही है कि आप इसे आगे की पढ़ाई उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ा रहे हैं। पण्डितजी ने कहा कि बेटा! तुम नहीं समझते, शान्ति से पढ़ो। उसने कहा कि पण्डितजी! आप नहीं समझ रहे हैं और इस स्कूल में आप बेईमानी कर रहे हैं? आप हमको भी उ, ऊ, ए, ऐ पढ़ाइये वरना हम स्कूल छोड़कर चले जायेंगे। पण्डितजी ने कहा कि बेटा! बिना अ, आ, इ, ई याद हुए हम तुम्हें उ, ऊ, ए, ऐ नहीं पढ़ायेंगे। पण्डितजी द्वारा यह उत्तर सुनकर बाद में आने वाला दूसरा विद्यार्थी नाराज होकर स्कूल से निकलकर चला गया।

यह घटना आज से करीब तीस वर्ष पूर्व की है। श्री प्रभुजी ने आगे उपदेशित करते हुए कहा कि जैसा कि तुम लोग जानते हो, आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व काफी उम्र के होकर बच्चे प्राइमरी पाठशाला में पढ़ने जाया करते थे, क्योंकि उस समय शिक्षा के प्रचार और प्रसार का महत्त्व आजकल की अपेक्षा बहुत ही कम था। अब तो बच्चे बहुत ही कम अवस्था में प्राइमरी सेक्शन की पढ़ाई समाप्त करके आगे बढ़ जाते हैं। क्रोधावेश में नाराजगी से स्कूल से बाहर निकला हुआ वह विद्यार्थी अपने प्राइमरी पाठशाला के पण्डितजी को नीचा दिखाने का

उपाय सोचने लगा। उसे तत्काल उपाय भी मिल गया और वह उस रास्ते में छिपकर बैठ गया, जिस रास्ते से उसके प्रायमरी पाठशाला के पण्डितजी घर से स्कूल आया-जाया करते थे। सायंकाल अपने स्कूल की छुट्टी कर पण्डितजी जब अपने घर को आ रहे थे, उस बालक ने जो रास्ते में मारने के लिये ही छिपकर बैठा था, एक पत्थर का टुकड़ा उठाकर जोरसे उनके सिर पर मार दिया। टुकड़ा लगते ही पण्डितजी जमीन पर गिरकर बेहोश हो गये एवं उनके सिर से खून की तेज धारा निकलने लगी। उस बालक ने पत्थर मारकर अपनी मनोकामना पूर्ण की और तत्काल भागकर अपने घर जाकर छिप गया।

उस रास्ते से गुजरने वाले कुछ राहगीरों ने पण्डितजी को पहचान लिया, उन्हें यह देखकर बड़ा ही कष्ट हुआ। वे उन्हें बेहोशी की हालतमें ही उठाकर आदरके साथ डाक्टर के पास ले गये एवं उनका समुचित इलाज कराया। पण्डितजी तत्काल होश में आगये। कुछ दिनके डाक्टरी उपचारके बाद पंडितजी बिल्कुल ही स्वस्थ हो गये। इसके बाद उन्होंने अपनी प्राइमरी पाठशाला में शिक्षण का कार्य सुचारु रूपसे आरम्भ कर दिया, परन्तु वह विद्यार्थी जिसने पण्डितजी को पत्थर मारा था, आज भी बिल्कुल मूर्ख रहकर खेती का कार्य कर रहा है।

श्रीमुख ने आगे उपदेशित करते हुए कहा कि या तो किसी प्रकार की पढ़ाई पढ़ेही नहीं और यदि पढ़ने की तीव्र लगन है तो खूब सोच-समझकर और जान-बूझकर अपना गुरु बनाना चाहिए। फिर एक बार जब किसीको अपना गुरुदेव बना लिया तो उसकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना चाहिये। इसी में शिष्य का सब प्रकार से कल्याण है। यदि शिष्य गुरु के नियन्त्रण में नहीं रहता तो उसका भला होना मुश्किल सा ही है। गुरुदेव खूब अच्छी प्रकार से जानते हैं कि उनके किस शिष्य का भला किस प्रकार से आसानी से हो सकता है। आराध्यदेवजी ने आगे बतलाया कि एक बार गुरुदेव बनाने के बाद यह सोचने की आवश्यकता ही नहीं रहती कि गुरुदेव हमारा भला कब करेंगे। यह भी नहीं सोचना चाहिये कि हमारी कम प्रगति कर रहे हैं तथा हमारे अमुक गुरु-भाई की अधिक प्रगति कर रहे हैं या हम पर कम कृपा करते हैं और हमारे अमुक गुरु-भाई पर अधिक कृपा करते हैं। ऐसा भी नहीं करना चाहिये कि आज गुरु बना लिया, मन को ऐसा लगा कि कोई खास प्रगति नहीं हो रही है तो चार-पाँच महीने बाद दूसरा गुरु बना लिया। दूसरा गुरु बनाने के साल-दो-साल बाद मन को ऐसा आभास हुआ कि इनसे भी कोई विशेष प्रगति नहीं हो रही है तो उसके बाद तीसरा गुरु बना लिया। यदि कोई आध्यात्मिक साधक ऐसा करता है तो यह ठीक नहीं। कहावत है कि—

एकै साधै सब सधै,
सब साधे सब जाय।

जो तू सींचे मूल को,
फूले, फले अघाय ॥

अतः भला चाहने वाले और अपने परम कल्याण की कामना वाले आध्यात्मिक-पथ के पथिक को खूब अच्छी प्रकार से जान करके अपना गुरु बनाना चाहिये। एक बार यदि किसीको अपना गुरु बना लिया तो फिर उनके पूर्ण नियन्त्रण में रहकर अपनी साधना करनी चाहिये। इतना उपदेशित करने के बाद अपनी मधुर मुस्कान से मुस्कराते हुए हमारे आपके और प्राणी मात्र के भाग्य-विधाता श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने नवागन्तुक से कहा कि जाओ सोच लो लल्ला! नवागन्तुक ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि प्रभो! हमने खूब अच्छी प्रकारसे सोच-समझ लिया है, हम आपके शिष्य बनना चाहते हैं। श्रीमुख ने आदेश दिया कि ठीक है लल्ला! यदि तुमने अच्छी प्रकार से समझ लिया है तो हम तुम्हारे गुरुदेव बनने लायक हैं अतः तुम दोनों हमारे नियन्त्रण में रहकर अपनी साधना करना आरम्भ कर दो। कल प्रातः काल तुम दोनों दीक्षा ले लेना और जैसा हम आदेश करें, वैसी साधना आरम्भ करना। इस प्रकार नवागन्तुक को निमित्त बनाकर श्री प्रभुजी ने वहाँ उपस्थित सभी साधकों को यह स्पष्ट चेतावनी दी।

यद्यपि यह लेखका कोई विषय नहीं है तथापि प्रियतम की प्रत्येक बात उनके चाहने वालों को प्रिय लगती है। अतः इसे लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है। अपने विचार के अनुसार एक अन्तर यहाँ स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ और वह है "मानने और जानने, दो शब्दोंका अन्तर। किसी की बातको बिना किसी संशय या झिझक के ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना मानना कहलाता है। उदाहरणार्थ—यदि किसी ने कह दिया कि हवाई जहाज एक ऐसा यन्त्र है, जो बिना किसी सहारे के आकाश में उड़ता है। जो उसकी इस बात को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लेना 'मानना' है। प्रमाण के साथ किसी वस्तु या तथ्यको मानना 'जानना' कहलाता है। जैसे श्रोता ने सुना कि हवाई जहाज एक ऐसा यन्त्र है, जो बिना किसी सहारे के आकाश में उड़ता है। अभी वह सोच ही रहा है कि अच्छा ऐसा भी होता है; और इतने में एक जहाज आकाश में उड़ता हुआ उसके सामने से गुजरे एवं वक्ता उसे दिखला दे कि देखो भाई! यही हवाई जहाज है, जिसकी मैं बात कर रहा था। अब तुम देख रहे हो कि यह आकाशमें बिना किसी सहारे के उड़ता चला जा रहा है। श्रोता का जहाज के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना 'जानना' कहलाता है।

अन्त में आराध्यदेवजी के युगल-चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम के साथ प्रार्थना है कि करुण-कृपा सदैव रखते हुए आज्ञा-पालन करने की शक्ति प्रदान करने की कृपा की जाय।

गुरु नानकदेव

❀ श्री डा० विजयसिंह

काल बलवन्त बली है। मनुष्य ही क्यों अपितु राष्ट्रों तमाम देशोंका भी भाग्योदय एवं पतन काल के वशीभूत रहा करता है। कितनी संस्कृतियाँ जमीं और काल के काले अतीत गह्वर में खोगईं। अनेक विज्ञान मानव समाज की धरोहर में मनीषियों ने समय-समय पर दिया, परन्तु पात्रता समाप्त होते ही कालने उनको लुप्त कर दिया। मानव मात्रका अनन्यतम उपकार करने वाली विद्या योग भी समाज की अपात्रता के कारण बार-बार नष्ट होती रही है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है—

एवं परम्पराप्राप्त-
मिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता
योगो नष्टः परंतप॥

—गीता ४/२

परन्तु भारत-भूमि सिद्ध-देव वंदित है। अतः जब-जब सत्याचरण का लोप होता है, तब ही कोई न कोई दिव्यात्मा इस भू-भाग में अवतरित हो सनातन सत्य-धर्म जिसको प्राण आत्मोपलब्धि रूपी ध्यान-समाधि है, उसे प्रकाशित करता है।

जिस काल के तल पर आज का समाज है उसके सापेक्ष अतीत का अवलोकन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि के बिना सम्भव नहीं है। पर्याप्त निरपेक्ष चिन्तन के अभाव में किया गया आकलन सत्य से परे स्वार्थ सन्निहित एवं असत्यात्मक ही होगा। जैसाकि आज पंजाब में सिक्ख-हिन्दुओं का असौहार्दय सम्बन्ध हो चुका है। सिक्खों का धर्म क्या है? इनके आदि गुरु नानकदेव कौन थे? उनकी साधना क्या थी? उन्होंने मानव-मात्रको क्या शिक्षा दी है? इन सब प्रश्नों का संक्षेप में यहाँ समाधान दिया जा रहा है।

मूलतः मानवीय सदाचरण ही व्यावहारिक दृष्टि से धर्म का स्वरूप है। वही आध्यात्मिक तल पर मनुष्य को अपने मूल स्वरूप का बोध अथवा अपने उत्पत्ति-स्रोत की जानकारी के रूप में किया गया है। ये दोनों बातें जिन व्यक्तियों के जीवन में हर तरफ से घटित प्रतीत होती है, उन्हीं के आसपास व्यक्तियों की भीड़, जीवन प्रेरणा एवं शाश्वत प्रश्नों के समाधान के लिए हर काल में जुटती रही है। धर्म संस्थापना का कार्य सदा इसी प्रकार होता आया है। सत्य की आत्म-प्रतिष्ठा अन्तर्दृष्टि से ही सम्भव है। समाज जब-जब आचारहीन हो उठता है तब-तब जगदात्मा अखिल लोक-पावन भगवान् श्रीकृष्णजी की प्रतिज्ञानुसार अवतारी पुरुषों का अवतरण "सम्भवामि युगे-युगे" के अनुसार होता है। "कार्य आचारः परमो धर्मः" अर्थात् मानव सदाचार का व्यावहारिक ज्ञान देता हुआ करता है। पथ-प्रदर्शन महापुरुष के अन्दर भगवान् पतञ्जलि के सूत्रानुसार—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

अर्थात् अकाल तत्व, ईश्वर ऐश्वर्य ही कार्य किया करता है।

संवत् १५२६ में ऐसे ही अकाल तत्व का मानव कलेवर में अवतरण हुआ। जिनके

पिता का नाम श्री कल्याणराय तथा माता का नाम तृप्तादेवी था। बर्बर मुगलों, पठानों के आततायी आक्रमण और अतिक्रमण से अपना देश हर प्रकार से पथ-भ्रष्ट हो चुका था। यवन-पीड़ित आर्य सन्तान उस काल में मुसलमानोंकि अत्याचार से दुखित एवं कातर हो गई थी। धर्म के नाम पर परम्पराओं के ढिंढोरे ही पीटे जा रहे थे। धर्म का न तो व्यावहारिक ही न अध्यात्मिक स्वरूप उस समय समाजमें प्रतिष्ठित था। अतः "ज्योति-रूप हरि आप गुरु नानक कहायो" तथा "सुनि पुकार दातारि प्रभु गुरु नानक जग माहि पठायो।" आगे हम देखते हैं कि वैदिक काल से आत्म-ज्योति का बोध कराने वाली सद्‌गुरु सत्ता, जिसका कार्य है चक्षुःउन्मीलन अर्थात् व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि प्रदान करना तथा समष्टि रूप समाज को सद्‌पथ की ओर अग्रसरित करना। सिक्ख-वाणी में उल्लिखित है—

सद्‌गुरु नानक प्रगटिया,
मिटी धुन्ध जग चानन होया।
ज्यों कर सूरज निकले,
तारे छपे अंधेर पलोया॥

संक्षेप में गुरु नानकदेव का बाल्यकाल एवं उनकी अलौकिक आत्म-शक्तिका परिचय करना समीचीन होगा। पिता की इच्छानुसार समय आने पर बालक नानक को संस्कृत अध्ययन करने के लिए श्रीगोपाल पण्डितजी के गुरुकुल में भेजा गया, परन्तु नानकदेव का मन तोता-रटन्त विद्या में कभी नहीं लगा। एक दिन शिक्षा गुरु के प्रताड़ित करने पर तथा कुछ लिखकर दिखाने के लिए कहने पर, बालक नानक ने जो कुछ लिखा उस शिक्षाने गुरुकी भी आँखें खोल दीं। इन्होंने लिखा—"मोह ममता को फूँककर त्याग की स्याही से बुद्धि के कागज पर उसका नाम लिखना चाहिये, जो सब प्राणियों और संसार का आधारभूत है। यदि ऐसा लिखना आ गया तो वहाँ लेखा मांगा जायेगा सत्य सिद्ध होगा।"

पिता बालक के इस उन्मनी प्रकृति के कारण तथा घर-गृहस्थी की ओर से उदासीन वृत्ति के कारण सदैव चिन्तित रहा करते थे। परन्तु नानकदेवजी हर कार्य अन्तःप्रेरणा से ही किया करते थे।

एक बार उनके आचार्य ने "ॐ नमः सिद्धम" लिखा और नानक से कहा कि इसे याद करलो। बालक नानक ने पूछा—इसका क्या अर्थ है? आचार्य ने कहा—मैं जो कार्य आरम्भ करने वाला हूँ, उसमें ईश्वर सफलता दे। बालक नानक ने विनीत स्वर में कहा—आचार्य! क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि वह असीम अनन्त ईश्वर ही सारे संसार के कार्य सिद्ध करता है। अद्‌भुत सटीक व्याख्या सुनकर आचार्य आश्चर्य-चकित रह गये। इसी प्रकार उर्दू फारसी के ज्ञान हेतु पिता ने मुल्लाओं के पास भी भेजा, परन्तु नानक अपने अन्तर में प्रवाहित आनन्द निर्झर में सदैव डूबे रहा करते थे। योग-दर्शन की दृष्टिमें नानकदेव 'भव प्रकृत विदेह लयनाम'

के सूत्रानुसार भव प्रत्यय योगी थे। जो साधक पूर्व जन्मों में सद्गुरु की कृपा-शक्ति को पा करके सम्प्रज्ञात की उच्चतम भूमिकाओं, आनंदानुगत एवं अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त करके शरीरगत होते हैं, ऐसे लोगों को स्वभावतः नये जन्म में पूर्व बौद्धिक योग प्रगट हो जाया करता है।

अध्ययन समाप्त हो जाने के पश्चात् नानकजी का मन घर-गृहस्थी में लगता न देखकर पिता ने इन्हें पशुओं के रेवड़ को चराने का कार्य सौंपा। प्रातः ही पशु झुण्डों को लेकर जंगल में निकल जाते तथा पशु चरनेमें मग्न होते और इधर नानक निरंकार निरंजन में अन्तर्निमग्न हो उठते। एक बार ऐसी ही चरवाही के समय एक घटना घटित हुई। नानक जब ध्यान-मग्न थे, न मालूम कितना समय व्यतीत हुआ। पशु स्वभावतः चरते-चरते जंगल से बाहर दूसरे गाँव के खेतों की उपजी हरियाली को भी चर गये। वह जमाना जमींदारी व सामंतों का हुआ करता था। जिस खेतिहर का नुकसान हुआ था वह ढूंढता हुआ नानक चरवाहा के पास आ पहुंचा। नानक समाधिलीन थे। खेतिहर उन्हें नींद में सोता हुआ समझ कड़क कर बोला! नानक का अन्तर्लय टूटा। प्रकृतस्थ हो उन्होंने सारे नजारे को जाना और विनीत स्वर में बोले—इन ईश्वर के मूक-पशुओं ने यदि दो मुंह तेरे खेत में मार दिये हैं तो कोई बात नहीं! ईश्वर तेरी खेती में बरकत करेगा। कहा जाता है कि नानक की इस वाणी का असर हुआ। खेती में जहाँ भी पशुओं द्वारा चरा गया था वहाँ वैसी की वैसी लहरा उठी। खेतिहर बालक की इस दैवी-शक्ति को देखकर चकित हो उठा। एक बार ऐसी ही चरवाही के समय नानक समाधि-मग्न पेड़ की छाया में लेटे हुए थे। समय व्यतीत होने पर छाया के हट जाने पर सूर्य की तेज किरणें उनके चेहरे पर पड़ने लगीं। अन्य चरवाहों ने देखा कि एक भयंकर विशाल फणिधर सर्प कहीं से आकर फन फैलाकर धूप को रोककर बैठ गया। कहावत है—

"होनहार बिरवान के, होत चीकने पात।"

नानकदेव अपने में अनोखा, पिताजी के इकलौते पुत्र, परन्तु बाल्यकाल से निर्मम, निःसंग, और सदैव साधु-संत संग-सेवी थे। सन्तों के सत्संग के लिए दूर-दूर तक भ्रमण करते थे।

एक बार पिताजी ने उस सस्ते जमाने में २० रुपये देकर व्यापार हेतु नानक को भेजा। रास्ते में परिक्रमा पर निकली साधु-मण्डली को भूखा-प्यासा देखकर नानक ने उस द्रव्य से उन भक्तों-सन्तों की सेवा कर दी और सारी पूँजी खर्च करके खाली हाथ घर लौट आये। पिता इस आशा में थे कि बेटा लाभ कमाके आयेगा परन्तु नानक ने सच्ची खरी कमाई की थी, जिसका ज्ञान साधारणतया सांसारिक लोगों को नहीं हुआ करता। पिताजी ने खूब खरी-खोटी, डाँट-फटकार सुनाई, परन्तु नानकदेव अपने अन्तर

समय का मूल्यांकन

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

इस संसार में जितनी भी वस्तुओं अथवा पदार्थों से मनुष्यों का सम्पर्क एवं सम्बन्ध है अर्थात् सुख-सामग्रियाँ, योगैश्वर्य, धन-दौलत, भूमि-सम्पत्ति, मकान-हवेली तथा अन्यान्य भोज्य पदार्थ आदि जो कुछ भी मनुष्य के अधिकार में है, यदि वह सबके सब पदार्थ उसके हाथों से निकल जायें, तो परिश्रम एवं पुरुषार्थ के द्वारा इन्हें फिर से हस्तगत किया जा सकता है। परन्तु एक वस्तु ऐसी भी है, जो जाकर लौट नहीं सकती। वह है समय, जिसे एक बार खोकर अथवा गंवाकर किसी भी परिश्रम अथवा मूल्य के बदले पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता।

एक न एक युक्ति, एक न एक उपाय प्रत्येक खोई हुई चीज को पा लेनेके लिये है। परन्तु समय ऐसी विभूति है, जो एक बार हाथों से निकल जाय, तो फिर कभी हाथ नहीं आता। कोई उपाय, कोई युक्ति उसे लौटा लाने में सफल नहीं हो सकती।

समय क्या है? मनुष्य के पास परमात्मा की दी हुई अति मूल्यवान् धरोहर है। श्री गुरुदेव अपने प्रवचन में कहा करते हैं कि समय का एक क्षण भी नष्ट करना मानो परमात्मा की धरोहर का अपव्यय करना है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को एक वस्तु धरोहर के रूपमें दे तथा जब वह उसे वापिस मांगे, तब उसे वह वस्तु न मिले, तो इसे धरोहर का अपव्यय कहा जाता है और यह बहुत बड़ा नैतिक अपराध है। इसी प्रकार समय को व्यर्थ गवां देना भी परमात्मा की धरोहर में बेईमानी अथवा अपव्यय करने का अपराध है, जो सर्वथा अक्षम्य है। इसीलिए समय को कभी वृथा न गंवाना चाहिये।

जल जो बह गया है, उसे भूमि खोदकर वापिस लाया जा सकता है। खोई हुई दौलत को फिर से कमाया जा सकता है, संग्रह किया जा सकता है। परन्तु बीते समय के क्षणों को किसी भी युक्ति एवं उपाय से लौटा लाना संभव नहीं।

समय के अति सूक्ष्म परमाणु अथवा नन्हे-नन्हे कण (अर्थात् पल-क्षण) मणि-माणिकों के सदृश हैं। इन्हें अकर्मण्यता के खण्डहरों में बखेर कर नष्ट मत करो। जो व्यक्ति समय

में निमग्न रहे। उन्हें तनिक भी अपराध-बोध नहीं था, क्योंकि उन्होंने तो सचमुच उस धन से श्रेष्ठ कार्य सम्पादित किया था। ऐसा था अलौकिक बाल्यकाल गुरु नानकदेव का! आगे अगले लेख में समाज के अन्तर्गत जो आध्यात्मिक चेतना उन्होंने फैलाई तथा सनातन धर्म के प्राण आत्म-ज्ञान को पुनः प्रज्वलित किया उसका विवरण तथा आध्यात्मिक संदेश क्या है? इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जायेगी।

के क्षणों का उचित मूल्यांकन नहीं करता, समय भी उसके जीवन के मूल्य और महत्व को मिट्टी में मिला देता है।

हमारे जीवन का प्रत्येक दिन एक प्रिय अतिथि के समान है, जो नियति की ओर से सौभाग्य और सम्पदा समृद्धि के नव-नूतन उपहार हमें भेंट करने के लिए अपने साथ लेकर आता है। यदि इस सामान्य अतिथि का यथोचित आदर-सत्कार न किया जाये अर्थात् अपने घर में यदि इसकी आवभगत न की जाये, तो निराश होकर चला जाता है और फिर कभी लौटकर नहीं आता।

समय जीवन-पट का ताना-बाना है। इसी के सुकोमल एवं सूक्ष्मतर तन्तुओं से जीवन की चादर बुनी जाती है। यदि इस ताने-बाने को बाल्यकाल और युवावस्था की क्रीड़ा में तोड़ दिया जाता है तो यह बहुत बड़ी हानि है। क्योंकि यह सूक्ष्म ताना-बाना टूट जाय तो फिर कभी नहीं बुना जा सकता।

जो काम आज करने का है उसे कल पर कदापि न छोड़ा जाय, वरन् उसे आज और इसी क्षण ही पूरा कर लिया जाय, इसी में चतुराई है।

यह कथा सबने पढ़ी एवं सुनी होगी कि जब लंकाका प्रतापी राजा रावण मृत्यु-शैय्या पर पड़ा करवटें ले रहा था, तब भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने अपने अनुज लक्ष्मण को बुलाकर कहा—"लक्ष्मण! रावण प्रकाण्ड पण्डित एवं विज्ञानी है। उसके अन्तिम क्षणों में उसके निकट जाओ तथा उससे कोई मूल्यवान् शिक्षा ग्रहण करलो।"

आज्ञा शिरोधार्य कर लक्ष्मणजी चले। रावण अपने जीवन के अन्तिम श्वास गिन रहा था। उसके नेत्र मुंदे थे, मृत्यु-जनित पीड़ा के कारण उसका चित्त बाह्य जगत् से हटकर अन्तर्निहित हो रहा था। जीवन और मृत्यु के मध्य निर्णायक संघर्ष चल रहा था।

लक्ष्मणजी वहाँ आये और रावण के सिरहाने की ओर जाकर खड़े हो गये। उन्होंने बड़े आदर-भाव के साथ उसका नाम लेकर दो-तीन बार पुकारा। रावण को कुछ चेत हुआ, उसने धीरे-धीरे अपने अध-मुंदे नेत्र खोले और पूछा कि कौन आया है? सिरहाने की ओर खड़े रहने वाले लक्ष्मणजी को न तो वह देख सकता था, न ही उनसे बातचीत कर सकता था। इसलिए उसने उन्हें अपने पैरों की ओर आने का संकेत किया। अब लक्ष्मणजी उसके पांव की ओर आ खड़े हुए तथा उन्होंने संसार के सुविख्यात एवं अद्वितीय पण्डित को करबद्ध प्रणाम किया, तो रावण ने कराहती आवाज में प्रश्न किया—"कहो जितेन्द्रिय! कैसेकर आगमन हुआ?"

लक्ष्मणजी ने पुनः हाथ जोड़कर रावण के आगे शीश नवाया और कहा—'महाराज! आप बड़े गुणी, ज्ञानी तथा विद्वान हैं। कृपया मेरे लिए कुछ सदुपदेश दीजिये।'

रावण की देह के अंग-प्रत्यंग में, जोड़-जोड़में मृत्यु समय की पीड़ा भरी थी। उसने कराहकर दीर्घ निश्वास खींचा तथा रुक-रुक कर धीरे से बोला—'वीर लक्ष्मण! तुम ऐसे

समय आये, जबकि मेरे प्राण लबों पर अटके हैं। इस समय मैं अधिक बोल सकनेकी सामर्थ्य अपने में नहीं देखता तथापि तुम चलकर आये हो, इसलिए तुम्हें एक मूल्यवान् तथ्य बताता हूं। यदि इसे स्मरण रखोगे, तो बहुत लाभ प्राप्त करोगे। वह तथ्य यह है कि आज के काम को कल पर कभी मत टालना अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा।

रावण को बोलने में बड़ी कठिनाई हो रही थी तथापि उसने साहस बटोर कर मध्यम स्वरमें आगे कहा—"मुझे ही देख लो कि शारीरिक बल पराक्रम के साथ-साथ विद्या और कला की उत्तम शक्तियाँ भी मुझे प्राप्त थीं। अपने जीवन-काल में मैंने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये, परन्तु दो कार्य ऐसे भी थे, जिन्हें मैं कल के लिए टालता रहा और फल यह हुआ कि आज उन कार्यों को पूर्ण न कर सकने का खेद मनमें लिये संसार से विदा हो रहा हूँ। दो महत्त्वपूर्ण कार्य करने की मेरी अभिलाषा थी। एक तो यह कि सागर के क्षार-जल को मधुर मीठे जल में बदल दूँ तथा दूसरा संकल्प मेरा यह था कि पृथ्वी से लेकर स्वर्गलोक तक स्वर्ण-मण्डित सीढ़ियाँ लगवा दूँ। यह दोनों कार्य मैं जनहित के लिए करना चाहता था। यद्यपि ये दोनों कार्य मेरी सामर्थ्य से बाहर नहीं थे, तथापि मेरा दुर्भाग्य कि मैं सदा इन्हें आने वाले कल पर टालता रहा। फलस्वरूप मेरी वे दोनों महत्त्वाकांक्षायें आज तक पूर्ण न हो सकीं। आज मुझे घोर पश्चात्ताप हो रहा है कि इन कार्यों के सम्पादन में मैं टालमटोल क्यों करता रहा! तुम चाहो तो मेरे इस पश्चात्ताप से पाठ ग्रहण कर सकते हो। बस, मेरा यही उपदेश सदा स्मरण रखो कि जिस कार्य को करने का आज सङ्कल्प करो, उसे करही डालो कलके लिये कदापि न छोड़ो।"

बड़ी कठिनाई से रावण इतने ही शब्द कह पाया था कि उसके जीवन का टिम-टिमाता दीपक सदाके लिए बुझ गया। उसके प्राण पखेरू उड़ गये। एक झटके के साथ उसका सिर एक ओर को झुका और भूमि से जा लगा। लक्ष्मणजी ने उसे अन्तिम बार नमस्कार किया तथा उसके दिये हुए उपदेश पर विचार करते हुए वे अपने शिविर में लौट आये।

कहने का तात्पर्य यह कि जीवनका समय अत्यन्त मूल्यवान् है। संसार के किसी भी बहुमूल्य पदार्थ को समय की तुलना में नहीं रखा जा सकता। मनुष्य सोचता है कि अभी बहुत समय जीवन का पड़ा है, भजन-ध्यान आदि फिर कर लूँगा। इस प्रकार वह ध्यान व भजन के नितान्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण कार्य को कल पर रखता रहता है। परन्तु जीवन के क्षण तो रुकते नहीं। समय की अबाध-गति को किसने रोका है, वह क्षण-क्षण हाथों से निकला जा रहा है। यह मत समझो कि आयु बढ़ रही है, वरन् यह तो प्रतिक्षण कम होती जा रही है।

श्री गुरुदेव कथन करते हैं—"मिट्टी का ढेला जैसे जल में गलता जाता है, वैसे ही

आयु प्रतिक्षण घटती जा रही है। हे मनुष्य ! मुक्ति के द्वार पर आकर भी तू सावधान क्यों नहीं होता ? जिस प्रकार विमान पर तो बार-बार नहीं चढ़ता, वैसे ही यह मानुष-जन्म भी बार-बार मिलने का नहीं। इसलिये हे नर ! शुभ कर्म कर ले, ध्यान लगा ले, प्रभु का अखण्ड भजन करले। इसी समय में तू चाहे तो प्रभु से मिलन हो सकता है तथा यदि गफलत करे तो इसी समय में प्रभुचरणों से दूर भी हो सकता है। श्री गुरुदेवजी कहते हैं कि यह मानुष जन्म तो जुए का सा खेल है, चाहे तो बाजी मारले, चाहे हार दे।"

मन के सब मनोरथ और आकांक्षाएँ मन ही में घुट कर रह गईं। अभिलाषाओं की पूर्ति न हो सकी कि काल ने आकर चोटी से पकड़ लिया और खींच ले चला। न तो मनुष्य परमेश्वर का भजन ही कर सका तथा नहीं तीर्थ-सेवन की आकांक्षा पूरी कर सका। जब इन आकांक्षाओं को पूरा करने का समय था तब तो टालमटोल में समय बिता दिया। अब जब काल सिर पर आ पहुंचा तो पश्चा-ताप करना पड़ा। श्रीसद्गुरुदेवजी का कथन है कि स्त्री पुरुष, सम्बन्धी आदि धन-संपदा, रथ-वाहनादि तथा भूमि-सम्पत्ति आदि सब मिथ्या एवं असत् पदार्थ हैं। एकमात्र प्रभु-भजन ही सत है। हे जीव ! तू कितने ही युगों से नीच योनियों में भटकता फिर रहा है ? अब सौभाग्य से तुझे उत्तम मानव देह प्राप्त हुई है, यही ईश्वर से मिलने का सर्वो-त्तम अवसर है। ऐसे मूल्यवान् अवसर को प्राप्त करके भी तू ध्यान, भजन क्यों नहीं करता ?

विचार करो कि मानुष-जीवन को महा-पुरुषों ने कितना मूल्यवान् कहा है। इसे वे मणि-माणिक से भी अधिक मूल्यवान् बतलाते हैं—

रात गँवाई सोय करि,
दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था,
कौड़ी बदले जाय ॥
—कबीरजी

"मनुष्य रात्रि का समय तो निद्रा का रस लेने में व्यतीत कर देता है तथा दिन खाने-पीने और सुख-भोग में गँवा देता है। हीरे जैसा अमूल्य मानुष-जन्म मिला था, किन्तु भजन, सुमिरन के बिना यह कौड़ियों के भाव हाथ से चला जा रहा है।"

मानुष-जीवन के एक-एक श्वांस का मूल्य दोनों जहान की सम्पदा के तुल्य है। एक-एक श्वांस अमूल्य रत्न है। महापुरुषों के विचार से भजन-भक्ति बिना इस अमूल्य रत्न को मिट्टी में मिलाया जा रहा है।

श्री कबीर साहब ने तो एक श्वांस का मूल्य तीन लोक की सम्पदा से भी अधिक कहा है—

दोहा

कहता हूं कह जात हूं, कहा बजाऊं ढोल।
स्वांसा खाली जात है, तीन लोक का मोल ॥

अर्थात् भजन-भक्ति से विहीन जो भी एक श्वांस व्यतीत होता है, वह मानो तीन लोक

की सम्पदा के तुल्य हानि अथवा घाटा है। हम तो बार-बार यह बात समझा कर कह रहे हैं। अब क्या ढोल बजाकर कहें, तब तुम समझोगे ?

इससे भी आगे निकल कर कहा गया है—

मोल चतुरदस भवन को,
एक स्वांस है तोहि॥
ऐसो धन रघुनाथ को,
तुलसी वृथा न खोहि॥
—तुलसीदास जी

सन्त तुलसीदासजी कथन करते हैं कि हे जीव ! तेरा एक-एक श्वांस चौदह भुवन की सम्पदा का मूल्य रखता है। ईश्वर की दी हुई ऐसी बहुमूल्य धरोहर को भक्ति-भजन के बिना विषय-विकारों में व्यर्थ मत खो।

जन्म-जन्मान्तर के पुण्य कर्मोंके प्रताप से मानुष-जीवन की प्राप्ति हुई है। यदि समय का उचित मूल्यांकन न किया तो काम कैसे बनेगा ?

यह एक लघु कथा है—एक व्यक्ति खेत की रखवाली करने पर नौकर था। उसकी स्त्री वहीं उसे दोनों समय का भोजन दे जाती थी तथा वह दिन-रात वहीं रहा करता था। एक दिन वह खेत के पास चक्कर लगा रहा था कि भूमि में पड़ी एक पोटली उसे मिली, जिसमें कुछ रंगदार पत्थर के टुकड़े बंधे थे। रखवाला उन्हें पाकर अति प्रसन्न हुआ। मन में उसने सोचा कि खेत में चिड़ियाँ, कौवे, तोते आदि पड़ते हैं और खेत का नुकसान करते हैं, उन्हें उड़ाने के लिये ये पत्थर खूब काम देंगे। उसने वह पोटली अपने मचान पर रखली तथा उन रंगदार पत्थरोंको गुलेल में बाँधकर उनसे चिड़ियाँ, कौवे उड़ाने का काम लेता रहा। निकट ही एक नदी थी। जो पत्थर वह फेंकता था, वे सब उस नदी में जा गिरते थे। धीरे-धीरे पोटली के पत्थर समाप्त होने लगे। उनमें से अधिकांश तो नदी की भेंट हो चुके। थोड़े से जो शेष थे, वे मचान पर पड़े थे। एक दिन जब उसकी स्त्री दोपहर का भोजन लेकर आई, तो उसका छोटा बच्चा भी गोद में था। रख-वाला भोजन करने बैठा, तो बालक उन पत्थरों से खेलने लगा। स्त्री जब लौटने लगी तो दो-चार पत्थर के टुकड़े उसने बालक के हाथमें खेलने के लिए रहने दिये। घर आकर बालक दिन भर तो उन पत्थरों के साथ खेलता रहा, फिर उसने उन्हें घर के प्रांगणमें फेंक दिया। बहुत दिनों तक वे पत्थर वहीं पड़े रहे और किसी ने ध्यान न दिया।

एक दिन घरमें अन्न समाप्त हो गया तथा पैसों की तरफ से भी हाथ उन दिनों तंग था। रखवाले की स्त्री ने सोचा, क्यों न इन बेकार पड़े रंगदार पत्थरों को बाजार ले जाऊँ। कदाचित किसी मोल बिक जायें और मैं भोजन की सामग्री ला सकूँ। वह पत्थर के एक टुकड़े को दिखाने के लिये बनिये के पास ले गई। बनिये ने देखा, पत्थर अति मूल्यवान् है। बोला, इसके दाम अत्यधिक बनते हैं तथा मेरे पास इतनी नगदी ही नहीं, अच्छा हो, यदि तुम इसे किसी जौहरी के

पास ले आओ। स्त्री जौहरी की दुकान पर गई, जौहरी ने उस पत्थर को कसौटी पर जाँचा-परखा तो वह बहुत मूल्यवान् रत्न निकला। उसने उसका मूल्य दो लाख रुपये आंका तथा उसी क्षण दो लाख रुपये गिनकर स्त्री के हाथ पर रख दिये और पत्थर को लेकर उसे तिजोरी में बन्द कर दिया।

रखवाले की स्त्री दो लाख की थैली लेकर लौटी तो घर पहुंचते ही उसने अपने बड़े लड़के को आवाज देकर कहा कि जाकर खेत से अपने पिताजी को शीघ्र बुला ला। उनसे कहना कि अब दूसरों की चाकरी करने की आवश्यकता नहीं रही। रखवाला यह सुनकर अचम्भे में पड़ा और भागा-भागा घर आया। यहाँ उसने स्त्री से पूछा कि नौकरी करने की आवश्यकता क्यों नहीं रही ? यदि नौकरी न करूं तो हम लोग खायेंगे क्या ? उत्तर में स्त्री ने पत्थर के टुकड़े को बेचकर दो लाख रुपये पाने का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। रखवाले ने जब यह सुना कि जिन्हें वह केवल रंगदार पत्थर समझ रहा था। वे अमूल्य रत्न हैं, तो उसने अपना सिर पीट लिया। क्योंकि उस दिन वह शेष पत्थरों को भी चिड़ियाँ उड़ाने में फेंक आया था। इस अपनी अज्ञानता पर वह बहुत रोया, पश्चाताया। परन्तु पश्चात्ताप करने से अब क्या होता था। मूल्यवान् रत्न तो नदी की भेंट हो चुके थे।

इसी प्रकार मनुष्य को जो श्वांसों की पोटली मिली है, वह श्वांस हीरे-रत्नों से भी अधिक मूल्यवान् है। नादान अज्ञानी संसारी प्राणी इन रत्नों को विषय-सेवन में नष्ट कर देते हैं। परन्तु विचारवान् समझदार व्यक्ति भी यदि श्वांसों की पूंजी को वृथा गँवाये तो महापुरुषों को बड़ा दुःख होता है।

मानुष जन्म की प्राप्ति, सत्संग की प्राप्ति तथा सन्त सद्गुरु की शरणका प्राप्त होना—यह तीनों ही अति दुर्लभ संयोग हैं। ऐसे उत्तम संयोग तथा सुदुर्लभ अवसर को पाकर अपने समयका यथोचित मूल्यांकन करो और श्वांसों की मूल्यवान् सम्पत्ति को विषय-विकारों में नष्ट न होने दो। अपने बहुमूल्य समय के एक-एक क्षण को ध्यान, भजन, सुमिरन में लगाकर जीवन का सच्चा लाभ प्राप्त करो, यही श्रीगुरुदेवजी का उपदेश है। दिन-रात के चौबीस घण्टोंमें कम से कम एक घण्टा मन्त्र-जाप और एक घण्टा ध्यान में देना तो सबका अनिवार्य कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य पालन में ही जीवन की सार्थकता है।

विद्यामद, धनमद तथा तीसरा देश अथवा कुल का मद होता है। अहङ्कारियों के लिए यह उन्मादक होते हैं, किन्तु सज्जनों के लिए यही दमन का साधन बनते हैं। संसारमें अनेक मद हैं किन्तु ऐश्वर्यमद उन सबसे पापिष्ठ=अतिनिकृष्ट है। ऐश्वर्यमद से मस्त मनुष्य गिरे बिना नहीं रहता है अथवा नहीं सम्भलता है।

—महात्मा विदुर

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

काम, क्रोध तथा लोभ ये आत्मनाशक तथा नरक=दुःखमयी गति के तीन प्रकार के द्वार हैं, इसलिये इन तीन का मनुष्य त्याग करे।

चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥

चार निर्भय करने वाले कर्म, विधि विरुद्ध किये जाकर भय प्रदान करते हैं—(१) प्रमाण=विधियुक्त अग्निहोत्र, (२) मानमौन=शास्त्रीय मौन, (३) विधिपूर्वक अध्ययन तथा (४) विधि प्रमाण के अनुसार यज्ञ।

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताऽग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥

हे भरतर्षभ! पिता, माता, अग्नि (अग्निहोत्र), आत्मा (आत्मा, परमात्मा, अपना आप) तथा गुरु—इन पाँच अग्नियों की मनुष्य को यत्नपूर्वक सेवा करनी चाहिए।

पञ्चैव पूजयंल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान्पितॄन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥

देवों, पितरों, मनुष्यों, भिक्षुओं और अतिथियों—इन पाँच का सत्कार करता हुआ मनुष्य इस संसार में सुखदायी यश प्राप्त करता है।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधं आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥

कल्याणाभिलाषी मनुष्य को इस संसार में निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता—ये छः दोष त्यागने चाहिए।

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स जायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥

जो सब भूतों की शांति में संलग्न है, सच्चा, कोमल, (दूसरों का) मान करने वाला तथा शुद्ध भावों वाला है, वह अपने ज्ञातियों में, स्वच्छ खान उत्तम आकार में उत्पन्न हुई मणिराशि की भाँति बड़ा माना जाता है।

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थञ्चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥

मूर्ख मनुष्य अर्थ=सुख साधनों से, अनर्थ=झगड़ा बखेड़ा दुःख मानता हुआ और अनर्थ=चोरी आदि से अर्थ=धन की प्राप्ति मानता हुआ इन्द्रियों से पराजित होकर महादुःख को सुख मानता है।

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥

जो मनुष्य धर्म तथा अर्थ का त्याग करके इन्द्रियों के अधीन हो जाता है, वह शीघ्र लक्ष्मी, धन एवं परिवार से वियुक्त हो जाता है।

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥

जो मनुष्य अर्थों=धन आदि का स्वामी होता हुआ इन्द्रियों का स्वामी न हो, इन्द्रियों पर अनधिकार के कारण वह ऐश्वर्य से शीघ्र ही भ्रष्ट=च्युत हो जाता है।

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को संयत करके आत्मा के द्वारा आत्मा को खोजे, क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु एवं शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥

आत्मा उस आत्मा का बन्धु है, जिसने आत्मा के द्वारा उसको जीत लिया है, वही निश्चित बन्धु है; तथा जिसने अपने को नहीं जीता, वही अपना निश्चित शत्रु है।

चिकित्सा-विज्ञान : कुछ तथ्य

❀ आचार्य श्री वैदभूषण

ज्ञान अनन्त है। सब कुछ जान लेने पर अनजाना बहुत कुछ रह जाता है। चिंतन से ज्ञान-विज्ञान की परतें खुलती ही चली जाती हैं, चिंतन से ज्ञान खुलता चला जाता है। इसीलिये वेदरूपी ज्ञान को मंत्रों में बांधा गया है—"मन्त्रःकस्मात्! मननात्।" मनन और चिन्तन से ज्ञान प्रकट होता है, चिन्तन का ही दूसरा नाम मन्त्र है।

इस सृष्टि में सबसे अधिक आश्चर्य की बात है—जड़ और चेतन का अद्भुत संयोजन। शास्त्रों में चली आ रही एक उक्ति ज्ञान-विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ महासूत्र है—"यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" हम इसे उल्टा कहेंगे कि—"यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे", क्योंकि ब्रह्माण्ड पहले बनता है पिण्डका निर्माण बाद में होता है।

क्या जैसा पिण्ड है वैसा ही ब्रह्माण्ड है, यह बात सत्य है। वास्तव में जिसने इस सत्य को जान लिया वह बहुत कुछ जान जाता है।

जितना हम गहराई में उतरते चले जायेंगे उतनी-उतनी यह उक्ति साकार होती नजर आती है तथा ज्ञान-विज्ञान के अनेक रहस्य खुलते चले जाते हैं। वेदों में एक शब्द अनेक स्थानों पर आता है, वह शब्द है 'अश्विनौ'। जैसे रथमें दो घोड़े जोड़े जाते हैं युग्म अथवा युगल। वैसे ही इस सृष्टि में मुख्य रूप से सारा चक्र ही युग्म रूप से संयुक्त दृष्टिगोचर होता है इसे ही ऋषि या द्विवचन में 'अश्विनौ' कहा जाता है।

जैसे आँख और प्रकाश की जोड़ी है, कान और शब्द की जोड़ी है, नाक और गन्ध की जोड़ी है। वैसे मस्तिष्क या बुद्धि की जोड़ी है जो ज्ञान है।

ये युग्म तोड़ दिये जायें तो संसार निरर्थक हो जायेगा। आँखें तो ठीक हों पर प्रकाश न हो या प्रकाश हो और आँख न हो तो दोनों ही स्थितियाँ निरर्थक ही कही जायेंगी। सार्थकता तो तब है जब आँख भी होगी और प्रकाश भी होगा। ऐसे युग्म ही "अश्विनौ" कहलाते हैं, इनका परस्पर गहरा और सूक्ष्म सम्बन्ध है।

आँख और प्रकाश ये अग्नि तत्व के दो तट हैं। आँख स्थूल रूप है, प्रकाश सूक्ष्म रूप है। प्रकाश और आँख के मध्य में एक सूक्ष्म गहरा सम्बन्ध है। ये दोनों तत्व जिस सूक्ष्म गुण से बंधे हैं वह अत्यन्त सूक्ष्म महातत्व है। प्रकृतेः महान्! सूक्ष्म परमाणु से महान् उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना या उत्पत्ति केवल एक प्रयोग है, क्योंकि संसार में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। उत्पन्न करने की क्षमता न आत्मा में है न परमात्मा में। यहाँ जिसे हम उत्पत्ति या नाश कहते हैं, वह सब रूपान्तरण मात्र है।

यह सृष्टि केवल सर्वथा परमाणु का रूपान्तरण मात्र है मूल प्रकृति अक्षर है। क्षर रूपरहित-अविनाशी है। जो कुछ भी बनता-बिगड़ता प्रतीत होता है, ये दोनों ही रूपान्तरण मात्र है। बिना युग्म के जोड़े के सृष्टि

प्रलय रूपमें बदल जाती है। जैसे युग्म बनता है सृष्टि आरम्भ हो जाती है। इन युग्मों के भी दो रूप हैं—एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल।

स्थूल सूक्ष्म का रूपान्तरण मात्र है। सूक्ष्म से स्थूल बनता है और स्थूल से ही सूक्ष्म हो जाता है। आत्मा और प्रकृति का संयोग स्थूल है और आत्मा परमात्मा का संयोग सूक्ष्मतम है। इस प्रकार जीवन स्थूल है और मोक्ष सूक्ष्म है।

स्थूल और सूक्ष्म के भी तीन रूप हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। इस प्रकार यह सब जो कुछ दीख रहा है वह नौ-नौ विभागों में विभक्त है। एक, दो और तीन इनका मेल ही नौ है, नौ ही रूप है। इस स्थूल के और नौ ही रूप हैं सूक्ष्म के। इस प्रकार १८ उप-भेद हैं—'यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' जो कुछ भी हमें दीखता है या जाना जाता है।

यह सारा विश्लेषण हमें सूक्ष्म की ओर ले जाता है। हम इस सूक्ष्मता में न जाकर कुछ स्थूल की ओर जाते हैं।

मानवीय संसार में भी युग्म ही कार्य करता है, जैसे रेडियो या टेलीविजन। एक ओर से प्रसारण और दूसरी ओर ग्रहण। ग्रहण और प्रसारण की प्रक्रिया भी एक ही मूल के दो रूप हैं। इन दोनों रूपों के पीछे एक दृश्य या अदृश्य चेतन सत्ता कार्य करती है। रेडियो स्टेशन से वार्ता ब्राडकास्ट की जाती है, प्रसारित की जाती है। उसके छोटे रूप रेडियो सेट प्रसारण को ग्रहण करते हैं। प्रसारण और ग्रहण प्रधान दो यन्त्र हैं। कहने को दो हैं युग्म है, किन्तु सूक्ष्मता से देखें तो ये भी एक में ही युग्मत्व लिए हुए हैं। जो रेडियो स्टेशन प्रसारण करता है वह भी चेतन सत्ता से ग्रहण कर फिर उसे प्रसारित करता है। अर्थात् ग्रहण और प्रसारण दोनों प्रक्रियायें रेडियो स्टेशन में भी और वही ग्रहण और प्रसारण रेडियोसेट में भी है, किन्तु रेडियो स्टेशन की प्रसारण क्षमता प्रबल है और ग्रहण क्षमता न्यून। रेडियो में ग्रहण-शक्ति प्रधान है और प्रसारण गौण। इसी क्षमता को वैदिक भाषामें "होता" कहते हैं। होतृत्व शक्ति है—दानादनयो अर्थात् आदान और प्रदान इसी आदान-प्रदान को यज्ञ भी कहा जाता है।

इस सृष्टि में ठीक ऐसे ही युग्म है ब्रह्माण्ड और पिण्ड। ब्रह्माण्ड परमात्मा से ग्रहण कर पिण्डके लिए शक्ति प्रसारित करता है। पिण्ड उसे ग्रहण करता है। ब्रह्माण्ड पिण्ड का यह व्यापार ही सृष्टि है।

ज्ञान-विज्ञान ने अब इस सूक्ष्म तकनीक का स्पर्श किया है। धरती पर बैठे-बैठे जैसे वह आकाशीय उपग्रहों का संचालन निर्देशन, संशोधन करने में समर्थ है ठीक ऐसा ही सम्बन्ध ब्रह्माण्ड और पिण्ड में भी है।

विचार करते-करते हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि—ब्रह्माण्डीय शक्तियां ही हमारे पिण्ड का सञ्चालन करती हैं। ब्रह्माण्ड की विकृति से पिण्ड में विकृतियां उपजती हैं। आजकल का चिकित्सा विज्ञानी केवल पिण्ड तक ही दृष्टि दौड़ाता है। उसे अब पिण्ड से

अधिक ब्रह्माण्ड के शरीर की ओर ध्यान देना होगा।

स्थूल रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि एक ब्रह्माण्ड में चार घोड़े जुते हैं। अश्व शब्द का अर्थ है ऐन्जिन। फिर चाहे घोड़ा हो या धातु से निर्मित घोड़ा या ऐन्जिन।

यह ब्रह्माण्ड चार इन्जनों से युक्त यान है। एक ऐंजिन है सूर्य, जो इसमें सबसे मुख्य है अपने-अपने सौर-मण्डल में। दूसरा ऐंजिन है वायु। तीसरा ऐंजिन है पृथ्वी, चौथा ऐंजिन है समुद्र या पानी। इन चारों ऐंजिनों के सहारे हमारा सौर-मण्डल आकाश में गतिशील है।

इसी प्रकार हमारे पिण्ड में या देह में भी चार ऐंजिन हैं, जिसमें सबसे मुख्य यन्त्र है मस्तिष्क, बुद्धियन्त्र। हमारे पिण्ड में यह सबसे ऊपर है ठीक सूर्य के ही समान।

दूसरे पिण्ड का ऐंजिन है हृदय। इसका संचालन वायु से होता है। तीसरा यन्त्र है यकृत या लिव्हर जिसका संचालन मिट्टी से अर्थात् अन्न से होता है। चौथा ऐंजिन है गुर्दा वृक्क या किडनी, इसका संचालन जल से होता है।

विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि मस्तिष्क का संचालन सौर शक्तिसे 'सूर्य' से होता है। दोनों में सूक्ष्म तरंगों का सम्बन्ध है। इनका उचित समन्वय ही स्वास्थ्य का मूल आधार है।

जब-जब इनका संतुलन बिगड़ता है तब हम अस्वस्थ होते हैं। इन चारों पिण्ड के ऐंजिनों का सीधा गहरा सम्बन्ध ब्रह्माण्ड के चारों ऐंजिनों से है। जब तक हमारे चिकित्सक दोनों केन्द्रों के रहस्य को नहीं जान लेंगे तब तक वे हमारी आयु की रक्षा नहीं कर पायेंगे।

हमारी प्राचीन यज्ञ चिकित्सा पद्धति इन दोनों केन्द्रों को एक ही क्रिया से सुदृढ़ बनाने में समर्थ थी। आजकल का चिकित्सा-विज्ञान अभी पंगु व एकांगी है। क्या चिकित्सा-विज्ञानी इस दिशा में गहराई से सोचेंगे?

इस रहस्य को जान लेने व इसमें दक्षता प्राप्त कर लेने से वे दूर बैठे-बैठे भी रोगी के शरीर को वैसे ही स्वस्थ व अनुशासित कर सकेंगे जैसे कि—जमीन पर बैठकर भू-वैज्ञानिक उपग्रहों को नियन्त्रित कर रहे हैं। आशा है कि चिकित्सा-विज्ञानी इस दिशा में गम्भीरता से सोचेंगे।

—※—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥

—अथर्व० ५/९/७

सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्षस्थ तत्त्व मेरा आत्मा है, पृथ्वी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकार का मैं अपराजित हूँ। मैं अपने आपको द्यु और पृथ्वी लोक के अन्तर्गत जो कुछ है उस सबके संरक्षण के लिये अर्पण करता हूँ।

योग और भजन-कीर्तन

❋ ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश

ईश्वर प्राप्ति के इच्छुक साधकों के लिए ध्यान-समाधि योगादि की साधना चंचल और विकारयुक्त मन के कारण आज के युग में थोड़ा कठिन सी प्रतीत होती है। स्मरण, भजन, ध्यान एवं जप आदि में रजोगुणी अस्थिर मन, पूर्व की स्मृतियों तथा भविष्य के संकल्पों (इच्छाओं) के जालसे घिरा होता है; ऐसी स्थिति में कीर्तन-भजन योगके द्वारा मन बहुत शीघ्र ही एकाग्र होकर ध्यान व समाधि के योग्य हो जाता है। कीर्तन-भजन से आलस्य, जड़ता और विषयासक्ति की निवृत्ति होकर पवित्र भावनाओं का अभ्युदय स्वतः ही होने लगता है। "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" के अनुसार मनुष्य के चंचल एवं प्रमादी मन की वृत्तियाँ कीर्तन-भजन के द्वारा अनायास ही स्थिर हो जाती हैं। अतः यह योग सरलता से सिद्ध हो जाता है। मन एकाग्र एवं सात्विक होकर भगवत् प्रेम में समर्पित एवं स्थिर हो जाता है।

योग में चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुख करने का नाम 'भजन' है। भजनीय तत्व भोगमय संसार नहीं, बल्कि योगमय भगवान् हैं, जिसका संसार में व्यक्तस्वरूप श्रीसद्गुरुदेव भगवान् हैं। भजन के द्वारा हम अभेद बुद्धि से भगवान से एकत्व (योग) सम्पादन करते हैं। भगवान् हमारे भाव देखते हैं, मन की तन्मयता देखते हैं। हमारी निष्ठा, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और मन की एकाग्रता देखते हैं। भजन के द्वारा भगवान् के चरणों में अनुराग, प्रेम बढ़ता है, हृदय द्रवित और निर्मल होता है, भजन से हमारा सम्पर्क भगवान् से होता है। भगवान् को हमारा केवल प्रेम ही प्रिय है; जैसा कि रामायण में कहा है—

> रामहि केवल प्रेम पियारा।
> जान लेहु जो जाननि हारा॥
> हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
> प्रेम से प्रगट होइ मैं जाना॥

प्रेम व भजन का बल महान् है। भगवान् को प्रेम के द्वारा ही वशीभूत होता माना गया है। प्रेम और भजन के प्रभाव से श्री मीरा ने, सूर ने, कबीर आदि ने भगवान् को पा लिया था।

भजन में मनोभावों को भगवान् में समन्वित करके श्रद्धा एवं प्रीतिपूर्वक भगवान् का गुणानुवाद करना होता है। अपने मन के पवित्र प्रेमोद्गार को संगीत के माध्यम से गायन के द्वारा अभिव्यक्त करना ही भजन करना है। सामवेद में संगीत गायन के द्वारा निकले स्वर को ही ईश्वर कहा है। इस प्रकार संगीत भी ईश्वर प्राप्ति का अनुपम एवं मधुर साधन है। भजन, पद-गायन, प्रार्थना, स्तुति आदि भगवत्कृपा प्राप्त करने के ही साधन हैं। भजन, पद-गायन से मन में

एकाग्रता आती है, एकाग्रता से सत्त्व-गुण की वृद्धि होती है, सत्त्व-गुणसे ही अनन्यता आती है और इस अनन्यता को ही प्रेम कहते हैं। भजन, पद-गायन सुनने से सत्त्व-गुण के प्रभाव से हृदय में आनन्द की लहर उठने लगती है और मन आनन्द में विभोर होकर स्वतः ही अन्तर्मुखी होने लगता है, आँखें भी स्वतः ही बन्द हो जाती हैं। कर्णेन्द्रिय द्वारा अन्तर में संगीत का रस प्रवाहित होने से मन मयूर नाचने लगता है। इस प्रकार जब ध्येय में प्रेम की आसक्ति की दृढ़ता हो जाती है, तब मन समाधि भी ध्येयाकार वृत्ति से लग जाती है। क्योंकि उस वृत्ति में मन, वाणी, श्वांस और शरीर सब स्थिर हो जाते हैं। ध्येय में चित्त को तैल धारावत अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करना ही योग की परिभाषा में ध्यान कहलाता है।

भजन-कीर्तन भगवान् की साकार शब्दोपासना है। संकीर्तन, भजन भगवान् के नाम से एकतान चिन्तन का ही विशिष्ट रूप है। भजन नाम कीर्तन नादयोग है, शब्द योग है। "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" के अनुसार प्रणव ॐ नाम का कीर्तन करना शब्द ब्रह्म की ही उपासना है। भगवान् का नाम, जप, कीर्तन करते-करते उनका रूप भी प्रकट हो जाता है क्योंकि रूप नाम के ही आधीन होता है। भगवान् के प्रिय सम्बोधन परम-पावन नामों का उच्च एवं मधुर स्वर से एकाकी या सामूहिक रूप से पूर्ण मनोयोग के साथ बार-बार आवर्तन करना, उच्चारण करना कीर्तन कहलाता है तथा भगवान् के गुणानुवादों को पद या भजन के रूप में ताल, लय स्वर में वाद्य-यन्त्रों सहित तन्मयता से गाना, भजन-गायन कहलाता है।

नारद पुराणमें आता है कि "मेरे (भगवान् के) भक्त प्रेम-भाव में तन्मयतापूर्वक भाव-विभोर होकर जहाँ मेरे गुणों का गायन-कीर्तन करते हैं ; भगवान् भी उनके प्रेम के वशीभुत होकर वहीं निवास करते हैं। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदः।" इस सूत्र से यही प्रमाणित होता है कि भगवान् भजन-कीर्तन के द्वारा शीघ्र ही प्रभावित होते हैं तथा वे वहीं पर विशेष रूप से निवास भी करते हैं, जहाँ उनके नाम का कीर्तन होता है। गौरांग महाप्रभु के नाम कीर्तनका प्रभाव तो सर्व विदित ही है। जिसके प्रभाव से वन के पशु-पक्षी भी प्रभावित होकर कीर्तन करने लगते थे।

भगवान् का नित्य भजन-कीर्तन तथा पद गायन करने से उनके पावन-चरणों में हमारा अनुराग श्रद्धा एवं प्रेम नित्य निरन्तर बढ़ता रहता है। नाम उच्चारण से वाणी पवित्र होती है और अन्त में भगवान् का गुणानुवाद गाकर भक्त भगवान् को प्रसन्न कर लेता है। और भक्त-वत्सल प्रेमानुरागी भगवान् अपने भक्त को अपना लेते हैं।

ईश-वन्दना, प्रार्थना भक्ति का विशेष अङ्ग है, मानव मात्र प्रार्थी है, क्योंकि वह अल्पज्ञ है, असमर्थ है, प्रार्थ्य उसका ईश्वर है, जो सर्वज्ञ है, सर्व समर्थ है। प्रार्थना में

गुरु लोपो न कर्त्तव्यः

श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

ईश्वर परम अनुग्रह करने वाला है। समस्त जीवधारियोंने उसीकी कृपासे जीवनी-शक्ति प्राप्त की है। ईश्वर ने सुन्दर शरीर देकर मानव को सर्वोपरि स्थान दिया है, परन्तु उसने व्यक्ति को माया से ग्रसित कर दिया है। प्रत्येक व्यक्ति माया, मोह एवं अज्ञानता से अभिभूत रहता है। मनुष्य की इच्छायें अति शीघ्र ही फलाकांक्षिणी होती है। यदि फल में विलम्ब हुआ तो वह घबरा जाता है। इस घबराहटमें उसे अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान तक नहीं हो पाता है, इससे वह स्वयं अपने में ही फँसता चला जाता है। ऐसे आपत्ति काल में उसके कर्म संस्कार भी अवसर पा जाते है। इस प्रकार व्यक्ति ईश्वर को भी अपशब्द तक कह डालता है, क्योंकि वह आपत्ति से ग्रसित होता है, उसे कुछ भी सद्‌मार्ग नहीं सूझता है।

दूसरी ओर एक व्यक्ति जो गुरुमुख है, जिसकी समस्त इच्छायें गुरु के अनुकूल होती है, उसके समस्त योगक्षेम को वे कृपानिधान वहन करते है। यद्यपि शरीर के निर्माता ब्रह्मा है, वे भी व्यक्ति के कर्म-संस्कार के अनुसार शरीर का निर्माण कर देते है, परन्तु व्यक्ति को उसके कर्म-संस्कारों के जाल को काटकर ऊपर उठाने वाले गुरु है। गुरु-गीता में भी उल्लिखित है—

यावत्कल्पांतको देहस्,
तावद्देव गुरुं स्मरेत्।
गुरु लोपो न कर्त्तव्यः,
स्वच्छन्दो यदि भावयेत्॥

अर्थात् व्यक्ति को स्वच्छन्द यानी मुक्त होने की इच्छा हो तो कल्पान्त तक जब तक शरीर है, तब तक गुरु का स्मरण करना चाहिए—

मुनिभिः पन्नगैर्वापि,
सुरैर्वाशापितो यदि।
कालमृत्यु भयाद्रापि,
गुरुः रक्षति सर्वदा॥

विनम्रता का भाव श्रेष्ठ है, इसके साथ-साथ याचना का भी भाव होना चाहिए। व्यथित चित्त, दुःखी चित्त, अभाव ग्रस्त प्राणी के अन्दर से स्वतः ही प्रार्थना होने लगती है। प्रार्थना दुःखी प्राणी की वास्तविक पुकार है। अपनी निर्बलता, कर्मों अपने दोषों का ज्ञान जब होता है तो मनुष्य का चित्त दुःख-सन्ताप प्रायश्चित से भर जाता है और अना-यास ही वह ईश्वर के सामने प्रार्थना करने के लिए विवश हो जाता है। जैसे सूरदासजी को जब अपने दोषों का ज्ञान हुआ तो पदों के रूप में प्रभु के समक्ष गाने लगे—

"मो सम कौन कुटिल खल कामी"

सन्त तुलसीदासजी ने भी विनय-पत्रिका में इसी प्रकार के पदोंकी रचना की है। प्रभु मैं पतित पावन सुने—"अबलौं नसानी अब ना नसैहौं" आदि।

यदि मुनियों, सर्पो अथवा देवताओं से शाप दिया गया हो, तो उस शाप से काल और मृत्यु के भय से भी गुरुदेव सदा ही रक्षा करते हैं।

समस्त देव गुरुका पूजन करते हैं। भगवान् राम भगवान् शिव का पूजन गुरु के रूप में करते हैं। भगवान् शिव भगवान् राम की पूजा गुरु के रूप में करते हैं। अन्य देवगण भी इसी तरह उस परम तत्व का पूजन करते हैं। गुरु की अवहेलना किसी भी देव को सह्य नहीं है, क्योंकि वह परम तत्व गुरु रूप सतत् प्राणियों को मोक्ष-मार्ग तक ले जाने वाला है। साधक के कल्याण के लिए गुरु को कुछ भी करना पड़े उसे स्वीकार है। नीचेकी कथा में बात स्पष्ट हो जायेगी।

एक बार एक गुरुमुखी साधक अपने इष्ट मन्त्रका जाप मन्दिर में बैठकर कर रहा था। इतने में उसके गुरुदेव गुजरे, साधक मूढतावश देखकर भी गुरु के सत्कार में आसन छोड़कर नहीं उठा। गुरु के चित्त पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि गुरुदेव समझ रहे थे कि उसके चित्त में अहङ्कार का वास हो गया है। परन्तु भगवान् शिव से यह असह्य हो गया। वह वहीं मन्दिर में प्रकट हो गये। साधक घबरा उठा। रोषपूर्ण शब्दों में भगवान् शिव बोले—अरे पापी! तूने गुरु को देखकर भी गुरु की उपेक्षा की है और अजगर की तरह बैठा रहा। अरे पापी! तू जा अजगर हो जा? साधक घबरा गया, गुरुदेव उसकी स्थिति समझ गये। उनके मन में दया आ गई, वह भगवान् से प्रार्थना करने लगे—

हे कल्याणकारी प्रभु! आप इस साधक की मूढता पर ध्यान न दें। यह अज्ञानी है, इस पर किसी प्रकार से कृपा करें। गुरुदेव की प्रार्थना पर भगवान् शिव प्रसन्न हुए और बोले—मेरा वचन तो मिथ्या हो ही नहीं सकता, परन्तु वहाँ से बहुत शीघ्र ही मुक्त होकर कल्याण का भागी बन जायेगा।

इसी प्रकार एक बार इन्द्र की सभा में देव-गुरु बृहस्पतिजी पहुँचे। अन्य देवोंने अपने-अपने स्थान से उठकर गुरुदेव का सम्मान किया, परन्तु इन्द्र मूढतावश सिंहासन से उठे ही नहीं। उन्होंने गुरु के प्रति आदरयुक्त वचन भी नहीं कहा, न उन्हें बुलाया न उन्हें बैठने का आसन दिया तथा न चले ही जाने को कहा। छोटी बुद्धि वाले इन्द्र को राज्य के मदसे उन्मत्त जानकर देवताओं के आचार्य बृहस्पतिजी कुपित हो वहाँ से अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान हो जाने पर देवताओं के मन में बड़ा खेद हुआ। वहाँ उपस्थित यक्ष, नाग, गन्धर्व और ऋषिगण भी उदास हो गये। नृत्य, गीत समाप्त होने पर इन्द्र जब सचेत हुए, तब उन्होंने सबसे पूछा—महा तपस्वी गुरुदेव कहाँ चले गये। इन्द्र के इस प्रकार पूछने पर नारद ने कहा—बल-सूदन! आपके द्वारा गुरु की अवहेलना हुई है। आपके अनादर से राज्य अपने हाथ से चला जाता है।

अतः आप प्रयत्न करके गुरु से अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना मांगें। इन्द्र तुरन्त अपने सिंहासन से उठे और उन सभी सभासदों को साथ लेकर बड़ी उतावली के साथ

योग द्वारा उपलब्धि

❀ डा० श्री विजयशंकर उपाध्याय

योग एक कल्याणकारी विद्या है। योग का वर्णन करना मानो सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है। योग-चिकित्सा शास्त्र का प्रमुख अंग है। जिसकी साधना और सिद्धि बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों ने की है, अपने विचारों को शत्-प्रतिशत उद्घोष किया, अपने आत्म-ज्ञान वाणी द्वारा जन-समुदाय तक फैलाने का प्रयास किया। इस समय हमारे सद्गुरुदेव द्वारा देश में चारों तरफ समयान्तर्गत योग का प्रचार एवं विभिन्न प्रकार के रोगों का निवारण योग-चिकित्सा पद्धतिके द्वारा किया जाता है।

योग द्वारा मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से चतुर्दिक विकास होता है। अतीत काल में यौगिक मुनियों के द्वारा केवल प्रदर्शन मात्र होता था, जबकि ऐसा नहीं है। शास्त्र सूत्रों के आधार पर बड़े-बड़े रोगों का निवारण भी योग के द्वारा होता है। योग के द्वारा शारीरिक रोग निर्मूल हो स्थायी स्वास्थ्य एवं दीर्घायु की प्राप्ति होती है, इसके साथ-साथ मानसिक रोग भी समाप्त हो जाता है। साथ ही साथ गृह-व्याधियों का निवारण हो जीवन भर सुख, शान्ति एवं समृद्धि की प्राप्ति करता है।

योग के द्वारा स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर का ऐसा निर्माण होता है, जिससे मन एकाग्र एवं शान्त हो जाय और ऐसे शान्त और एकाग्र मन को समाधि में लगाया जा सकता है।

उपलब्धि की दृष्टि से योगके चार भेद हैं-

मन्त्र योग—मन्त्र योग साधन में मन्त्र, जप और इष्टदेव के मूर्ति-ध्यान की प्रधानता वर्णित है।

हठयोग—इसके अन्तर्गत ज्योति, ध्यान एवं शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता रहती है।

गुरुदेव के निवास स्थान पर गये। वहाँ गुरु पत्नी तारा को देखकर साष्टांग प्रणाम कर पूछा—माता! गुरुदेव कहाँ चले गये? तारा ने इन्द्र की ओर देखकर उत्तर दिया—मैं नहीं जानती, यह सुनकर इन्द्र घर वापस आ गये। उसी समयसे स्वर्ग में अनेक अद्भुत अनिष्ट सूचक अपशकुन होने लगे, जो सम्पूर्ण स्वर्गवासियों को तथा दुरात्मा इन्द्र को दुःख देने वाले थे। इन्द्र को समस्त दुःख गुरुदेव की अवहेलना के कारण उठाना पड़ा।

गुरुदेव के मनो-विनोद में कहे हुए वचन यथार्थ होते हैं। इसलिए प्रत्येक साधक को बड़ी सावधानी एवं तत्परता के साथ रहना है। साधक को प्रत्येक समय इस अमोघ मंत्र को ध्यान में रखना पड़ेगा—"गुरु लोपो न कर्तव्यो।" एक बार स्वयं श्री आराध्यदेव सद्गुरु भगवान् एक योग-निष्ठ साधक को समझाते हुए कहते हैं—वत्स! वह अमुक स्थान भी पहले जैसा नहीं रहा, क्योंकि वहाँ विभिन्न प्रकार के लोगों के आने जाने से कुछ दूषित हो जाता है। साधक गुरुदेव के इस रहस्ययुक्त वाणी को समझ नहीं सका तथा सचेष्ट भी न हो सका, इससे साधकको स्थान विशेष पर धोखा खाना पड़ा और पौद्गलिक बहुत हानि हुई।

अस्तु प्रत्येक साधक समुदाय एवं सामान्य जन के लिए यह आवश्यक है कि वह गुरुदेव के प्रत्येक वचन पर ध्यान दे। गुरु के आदेश निर्देश का लोप नहीं करना चाहिए। यदि इस दोषसे बच गया तो निश्चय ही वह आत्म-कल्याण का भागी बनेगा। वह श्रीसद्गुरुदेव भगवान् का प्यारा हो जायेगा, ऐसे सद्गुरुदेव को कोटिशः साष्टांग हो।

लययोग—इसके अन्तर्गत बिन्दु, ध्यान और सूक्ष्म क्रियाओं का विधान है।

राजयोग—राजयोग क्रिया के अन्तर्गत सूक्ष्म क्रियाओं के साथ-साथ विचार एवं भाव बुद्धि की एकाग्रता प्रधान रखती है। प्रथम तीन की सिद्धि हो जाने पर राजयोग स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसलिए राजयोग को ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

योग-साधना का प्रयोजन स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर की अनुकूलता प्राप्त करके मन को एकाग्र कर समाधि की प्राप्ति करना है। समाधि की जिस अवस्था में जीव और शिव-शक्ति और भगवान् का आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है, वही मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है और इतना ही योग की आवश्यकता है।

उपासना के दो प्रमुख अंग हैं—पहला भक्ति और दूसरा योग। उपासना का शरीर योग और प्राण भक्ति कही गई है। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर निर्जीव हो जाता है, इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती, ठीक इसी प्रकार भक्तिके बिना योग निष्फल एवं निष्प्रयोजन है। इसलिए कहा गया है कि योग-साधन और भक्ति की सहायता से अपनी उन्नति करके मानव परम शक्ति और कल्याण की प्राप्ति कर सकता है।

यथा तटाके स्थिरता-
माफ्न्ने वीचि जालके।
यथा तर्प हि सूर्यस्य,
स्वरूपं प्रतिबिम्बति॥
चित्तवृत्ति निरुद्धयैव,
योगेन नितरां तथा।
परात्मरूपमन्तः करणे,
शाश्वत् प्रकाशते॥

—राजयोग संहिता

"जिस प्रकार जलाशय में तरंगों में स्थिर हो जाने पर उसमें सूर्य का अपना स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार योग द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध होने पर पमात्मा का स्वरूप प्रकट होता है।"

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु,
न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्व संकल्प संन्यासी,
योगारूढ़स्तदोच्यते॥

—गीता ६/४

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है तथा न कर्मों में आसक्ति होता है, उस कालमें सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है। ऐसा भगवान् ने गीता में उपदेश दिया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं,
नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु
रात्मैव रिपुरात्मनः॥

—गीता ६/५

इस प्रकार की योगारूढ़ता कल्याण में हेतु कही गई है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने द्वारा अपना संसार समुद्र से उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न

पहुंचावे, क्योंकि यह जीवात्मा आपही तो अपना मित्र है और आपही अपना शत्रु है अर्थात् और कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है-

जितात्मनः प्रशान्तस्य,
परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु,
तथा मानापमानयोः ॥
—गीता ६/७

भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख आदि में तथा मान-अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ अच्छी प्रकार से शान्त हैं अर्थात् विकार रहित हैं। ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है अर्थात् उनके ज्ञान में परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं।

ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी,
समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
—गीता ६/८

जिन लोगों का ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है अन्तःकरण जिसका शुद्ध तथा विकार रहित है स्थिति जिसकी और अच्छी प्रकार जीती हुई हैं इन्द्रियाँ जिसकी संयत तथा समान है मिट्टी-पत्थर और सुवर्ण जिसके, बराबर हैं वह योगीयुक्त अर्थात् भगवान्‌की प्राप्ति वाला है, ऐसा कहा गया है।

योगीजन पुरुष सुहृद अर्थात् सबका हित चाहने वाला, मित्र बैरी, उदासीन अर्थात् पक्षपात रहित मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणों में तथा धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव है, वह अति श्रेष्ठ है।

योग के द्वारा मनुष्य अपने पाप-कर्मों से छुटकारा प्राप्त कर ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है। प्रारब्धानुसार बुरे कर्मों से दूर हो अच्छे कर्मों का मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञानी लोग आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर भविष्य की तथा जन्म-मरण की पूर्णतया जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार से योगीजन भगवान् का साक्षात् दर्शनकर पुण्य-लाभ को प्राप्त कर सकते हैं।

इस क्रियाके द्वारा नाना प्रकार के योग-द्वन्दों को पूर्ण कर विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्तकर समाधि की ओर अग्रसित हो आत्म-दर्शन करते हैं।

योग-क्रिया को करने के लिए शुद्ध भूमि पर कुशा, मृगछाला या वस्त्रको फैलाकर इस प्रकार से रखते हैं कि अधिक ऊँचा न हो न नीचा, समान रूप से रखें।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा,
यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्या-
द्योगमात्मविशुद्धये ॥
—गीता ६/१२

उस आसन पर बैठकर तथा मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वशमें करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करना चाहिए।

काशी है, पृथ्वी का ब्रह्मरन्ध्र

❀ श्री ब्रह्मचारी ओमप्रकाश

श्री विश्वनाथपुरी काशी जी की महिमा अपरम्पार है। भला काशी की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है। सर्वतीर्थमयी विश्वनाथपुरी काशी त्रैलोक्यमङ्गलकारी भगवान् विश्वनाथ एवं कलि-कल्मषहारिणी भगवती भागीरथी के अतिरिक्त अगणित देवताओं की आवासभूमि है। यहाँ कोटि-कोटि शिवलिङ्ग, चतुष्षष्टि योगिनियाँ, षट्पञ्चाशत् विनायक, नव दुर्गा, नव गौरी, अष्ट भैरव, विशालाक्षी देवी-प्रभृति सैकड़ों देव-देवियाँ काशीवासीजनों के योग-क्षेम, संरक्षण, दुरित एवं दुर्गति का निरसन करते हुए विराजमान हैं। इनमें द्वादश आदित्यों का स्थान और माहात्म्य भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनका चरित्र श्रवण महान् अभ्युदय का हेतु एवं दुरित और दुर्गति का विनाशक है। शास्त्रोक्त वर्णन के अनुसार अयोध्या, मथुरा आदि सात पुरियों को मोक्षदायी बताया है।

अयोध्या-मथुरा-माया-
काशी-काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी-द्वारावती चैव
सप्तैता: मोक्षदायिका॥

ये सातों पुरी मोक्ष को देने वाली होती हैं। मोक्ष का अर्थ है बन्धन से छूट जाना। बन्धन क्या है? पञ्चभौतिक शरीर तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार आदि से बंधा हुआ प्राणी सदा जन्म-मरण, जरा, व्याधि आदि दुःखों का अनुभव करता रहता है यह बन्धन का दुःख है। मोक्ष है—सर्व बन्धनों (दुःख क्लेशों) से छुटकारा। प्राकृतिक बन्धनों से छूटकर जीव को अपने स्वरूप की प्राप्ति। जहाँ शाश्वत् सुख अर्थात् सदा

समं कायशिरोग्रीवं,
धारयन्नचलं स्थिर:।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं,
दिशश्चानवलोकयन्॥
—गीता ६/१३

योग का अभ्यास करते समय काया, सिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर बैठे अन्य दिशाओं को न देखें, ऐसे भगवान् ने उपदेश दिया है।

इस प्रकार योग का अभ्यास करने वाला सदैव स्वस्थ, सुन्दर एवं सुडौल शरीर को प्राप्त करता है। इस प्रकार की क्रिया करने से किसी भी प्रकार की कमी नहीं हो पाती। प्राणायाम की क्रिया भी इसी विधि के द्वारा होती है, जिससे मनुष्य स्वस्थ एवं दीर्घायु को प्राप्त करता है।

योगाभ्यास की अंतिम उपलब्धि यह है कि आत्मा से परमात्मा का मिलन होता है।

मानसिक तथा शारीरिक विकार दूर हो स्वस्थ, सुन्दर एवं दीर्घायु की प्राप्ति होती है। मानव समाधि की ओर अग्रसित होता है, जिसे इहलोक और परलोक में अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

—卐—

आनन्द ही आनन्द का अनुभव करना मोक्ष कहलाता है, उसे कैवल्य, क्लेश की निवृत्ति इत्यादि नामों से भी कहा जाता है।

अयोध्या, मथुरा आदि सातों पुरी निश्चय ही मोक्षदायी हैं। परन्तु काशी को तो मोक्ष का द्वार कहा गया है। इस मोक्ष द्वार में प्रवेश के लिए अन्य पुरियों में मरने वाले दूसरे जन्म को काशी में लेकर पुनः अवश्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं, अर्थात् अन्य मोक्षदायनी पुरियों में मरने वाले जीव दूसरे जन्म में काशी में जन्म लेकर और काशी में ही देह त्यागकर मोक्ष को प्राप्त करता है। लेकिन वह जीव जिसने काशी में जन्म तो अवश्य लिया है परन्तु दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु काशी में न होकर अन्यत्र हो गई तो वह जीव मोक्ष गति को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि जब तक काशी में जीव देह न त्याग करे, तब तक वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। यात्रा के उद्देश्य से मनुष्य काशी से बाहर गया और वह वहीं मृत्यु को प्राप्त हो गया। काशी से बाहर मृत्यु प्राप्त करने वाला "काश्यां मरणान्मुक्ति" के अनुसार मोक्ष का अधिकारी नहीं है। बस अन्य मुक्तिधाम और काशीमुक्तिधाम में यही अन्तर है।

काशी में देह त्यागने वाले का पुनः जन्म नहीं होता, इसके अनेक प्रमाण हैं। वरुणा नदी से असी नदी के भीतर का स्थान ही काशी है। काशी में केदार खण्ड का महात्म्य अधिक है।

काश्यां तु ब्रह्मनालेऽस्मिन्-
मृतो मत्तारमाप्नुयात् ।
पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिं
प्राप्नोति मानवः ॥
यत्र कुत्रापि वा काश्यां
मरणेशमहेश्वरः ।
जन्तोर्दक्षिण कर्णेषु
मत्तारं समुपादिशेत् ॥
निर्धूता शेषपापौघम-
त्साऱूप्यं भजत्ययम् ।
सैव सालोक्य साऱूप्य-
सामीप्या मुक्तिरिष्यते ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण ध्याय-
न्मद्गुणमव्ययम् ।
मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग्
भजे भ्रमरकीटवत् ॥
सैव सायुज्यमुक्तिः स्यात्
ब्रह्मानन्द करीशिवा ॥

देह त्याग की अन्तिम अवस्था में जब दक्षिण कान में "मत्तारं समुपादिशेत्।" का मन्त्र योगेश्वर भगवान शङ्कर जी मरते हुए प्राणी को देते हैं उसी समय उस मन्त्र के प्रभाव से ही मरणशील प्राणी का सारा पाप नष्ट हो जाता है, और ज्ञान का उदय हो जाता है और वह प्राणी अविलम्ब मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और "निर्धूतशेष पापौघमत्साऱूप्यं भजत्ययम्" के अनुसार प्राणी साऱूप्यमुक्ति को प्राप्त करता है।

काशी मरत जीव अवलोकी ।
देत मुक्ति पद करत अशोकी ॥

लेकिन इस प्रकार की मुक्ति में एक प्रकार

का भय सा बना रहता है कि मृत्यु होने से पूर्व बुद्धि का क्या होगा निश्चित् रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि 'दैवीह्येषा-गुणमयी मम माया दुरत्यया" के अनुसार हो सकता है कि कुसंग से काशी की महत्ता के ज्ञान का अभाव हो जाय और मरण काल के समय में मनुष्य काशी से बाहर चला जाय तो ऐसी स्थिति में उस प्राणी का मोक्ष नहीं हो सकता। क्या ? जो पाप जीव के जन्म-जन्मान्तर के हैं अथवा जो पाप काशी में ही किये गये हैं, उनका भी विनाश हो जाता है। उनका विनाश नहीं होता। ऐसे पापी जीवों को भैरव जी की कचहरी में अवश्य खड़ा होना पड़ता है और उसके पापों को नष्ट करने के लिए दण्डपाणि भैरवजी के द्वारा वह दण्डित किया जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार से उस प्राणी के पापों को दण्ड द्वारा शुद्ध करके ही बाद में वह मोक्ष अवश्य देते हैं, अन्यत्र नहीं भेजते। उस जीव को मोक्ष के योग्य बनाते हैं। यह विधान कष्टकारक अवश्य है। जन्म-मरण की निवृत्ति तो उसी क्षण हो गयी जिस समय काशी में देह त्याग किया परन्तु भैरव यातना तो उस पापी को भोगनी ही होगी। मनुष्य से पाप होना तो स्वाभाविक है। जैसे वस्त्र को कितना ही बचाकर धारण करो, परन्तु मलिन होना उसका स्वाभाविक गुण है और उस मैलको दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साबुन, सोडा आदि लगाना और धोबी के डण्डे से यातना उस वस्त्र को सहनी ही पड़ती है। वस्त्र प्रिय होते हुए भी उसे दण्डित करना पड़ता है। ऐसा ही भैरवजी के द्वारा दण्ड पाने का उल्लेख है, उसे समझना चाहिए।

इस प्रसंग के अन्तर्गत एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि काशी के अन्तर्गत केदारखण्ड की अद्वितीय महिमा का वर्णन आता है। यह केदारखण्ड असी नदी से मदैनी, केदार मन्दिर, दुर्गाकुण्ड आदि का इलाका केदार-खण्ड के अन्तर्गत आता है।

श्री काशी च विमुक्तिदण्डमखिल,
धीरा हि मोक्षप्रियाः।
तद्भूपा नितरां तथापि,
जनता श्रीभैरवा ज्ञानशात्।।
कृत्याकृत्य विवेकशासन विधे-
र्मुक्तो हि कोऽप्यणु।
श्रीकेदारमही विसृष्टतनया,
नास्त्येव तच्छासनम्।।
पापी वा सुकृति तु वा,
द्विजवरा राजन्य विट्शूद्रकाः।
चान्ये वापि विलोम पुल्कस-
महाम्लेच्छाश्च चाण्डाल।।
अन्येऽप्यण्डजरा युजाण्डजगणा-
श्चोद्भिदश्च जाता अपि।
श्रीकेदारमही विसृष्टतनया,
मोक्षं प्रयान्त्यन्त्यजाः।।

श्री काशी मुक्ति देने वाली है। यहाँ के लोग श्री भैरवजी की आज्ञा के वशवर्ती हैं। उनके कर्मों की आलोचना होती है, उनका

शासन होता है, परन्तु इन बातों से परे वे लोग हैं, जिन्होंने अपना शरीर केदार क्षेत्र में त्याग किया है। उन पर शासन नहीं होता, यही केदार-खण्ड की विशेषता व महत्त्व है। चाहे पापी हो या पुण्यात्मा, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, शूद्र या विलोम जाति का पुल्कस हो या चाण्डाल या महाम्लेक्ष हो, चाहे स्वेदज, जरायुज या उद्भिज हो, श्रीकेदार क्षेत्र में शरीर त्याग करने से सीधे-सीधे मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं, इसमें तर्क का स्थान नहीं है। यह अंश केदार-खण्ड में विस्तृत रूप से वर्णित है। जो अत्यन्त नारकीय जीव हैं, वे काशी में आ ही नहीं सकते। कदाचित् तीर्थ-यात्रा में आ भी गये तो उनका मनमें उच्चाटन होने से तुरन्त वहाँ से भागने की वृत्ति उनकी हो जाती है। कदाचित् कारणवश रहते भी हैं तब भी मरण समय पर उनका देह-त्याग काशीसे बाहर होता है, ऐसा संयोग ही लग जाता है। मोक्ष को प्राप्त होना यह ही बाबा विश्वनाथजी की असीम कृपा से ही सम्भव है। काशी मोक्ष को प्राप्त करने के लिए यत्न व पुरुषार्थ करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है कि काशी में ही देह-त्याग हो।

काशी की यह भी विशेषता है कि अकाल-मृत्यु के कारण देह-त्याग होने पर भी मुक्ति निश्चय है। सनत्कुमार संहिता में लिखा है—

इथ्यन्तरे मुक्तपुरीयमध्ये,
चाण्डालवेदमस्यथ व श्मशाने।
कृत प्रयत्नोऽकृत प्रयत्नो,
देहावसाने लभते हि मोक्षम् ॥

तदुक्तम्—

भूमौजलेऽन्तरिक्षे वा,
यत्र क्वाऽपि मृतो द्विजः।
ब्रह्मैकत्वमवाप्नोति,
काशीशक्ति रूपाहिता ॥

श्री रामजी कहते हैं कि—

क्षेत्रेऽस्मिन् तव देवेश,
यत्र कुत्रापि वा मृताः।
कृमिकीटदयोऽप्याशु,
मुक्तिर्भवति नान्यथा ॥

इस प्रकार शास्त्रोक्त के अनेक प्रमाण हैं। काशी की भूमिके ऊपर एक ऐसा वायु-मण्डल सदैव रहता है कि जो देह त्यागी जीव उक्त स्थान को छोड़ने के कुछ क्षण में ही उक्त वायु-मण्डल में प्रवेश का लाभ पाता है, उसे ही मुक्त मानना चाहिए। इसका प्रभाव जीव मात्र पर पड़ता है। जैसे वर्षा का जल गड्ढे में ही स्वाभाविक रूप से प्रवेश कर जाता है, ऐसा नियम है। इसी प्रकार का मोक्ष के वायु-मण्डल का धर्म है। उक्त वायु-मण्डल से शिव-शिव की ध्वनि निकलती रहती है। वह व्यापक रूप से सदा व्याप्त है। इसी प्रकार से काशी की पृथ्वी के ऊपर कण-कण पर शिवजी व्याप्त हैं—

अविमुक्ते तव क्षेत्रे,
सर्वेषां मुक्ति सिद्धये।

धर्म क्या है ?

धर्म क्या है ? आचार ही प्रथम धर्म है। वेद और उसके अनुकूल स्मृति जिन विधि-निषेधों का वर्णन करते हैं, उनमें विधि का स्वीकार तथा निषेधों का परित्याग ही धर्म का पालन करना है। यह स्वीकार तथा परित्याग आचार में प्रकट होने चाहिए। कथनी को करनी में परिणत करना चाहिए। ज्ञान के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है। यदि ज्ञान तथा आचरण में वैपरीत्य रहा तो दम्भ का रूप खड़ा हो जायगा। मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकेगा, सदाचार या सच्चरित्रता से ही मानव धार्मिक बनता है। वाणी मात्र से नहीं, रोम-रोम द्वारा सच्चरित्र की ध्वनि निकलनी चाहिए, हमारे एक-एक आचरण द्वारा धर्म का जयघोष होना चाहिए। धर्म व्याख्यान-व्यापार नहीं, अनुष्ठान है जो वाणी ही नहीं, अंग-अंग को प्रभावित करता है। हमारी समस्त चेष्टाओं में धर्म प्रतिध्वनित होता है।

आचरण कर्म है। कर्म तीन प्रकार का हो सकता है—तामस, राजस तथा सात्विक। तामस कर्म हेय है, क्योंकि वह अधोगति का कारण है। राजस पर नियन्त्रण की आवश्यकता है। सात्विक कर्म ही उन्नयन करता है—ऊपर उठाता है। वेद कहता है—"उद्यानं ते पुरुष नावयानं।" जीव तुझे ऊपर उठना है, नीचे नहीं गिरना है। अधोगति की मार खाते-खाते तू अपने स्वत्व से ही हाथ धो बैठा है। मानव योनि में आकर अब तो अपने स्वत्व को पहिचान, अपने घर की ओर चल। इस पृथिवी की पीठ पर सवार हो जा और द्यौ लोक का आधान करता हुआ अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा।

—डा० मुन्शीराम शर्मा सोम

ब्रह्म हत्यादि पापेभ्यो,
मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इति रामचन्द्रेणोक्तम्। यह संवाद शिवजी के प्रति श्री रामचन्द्रजी ने वेदान्त में कहा है। शरीर में जैसे दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र है, जिस मार्ग से योगी प्राण छोड़ता है, और ब्रह्मत्व को अर्थात् मोक्ष गति को प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकार इस भू-मण्डल (पृथ्वी) का ब्रह्मरन्ध्र (दसवाँ) द्वार काशी है। जो प्राणी काशी में प्राण त्याग करता है, वह ब्रह्मत्व को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं, जिसे प्राणी सहज में ही प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धा-भक्ति का अपूर्व अतिरेक—

श्री गुरुदेव भगवान् के अभिषेक और पूजन की समूची कार्यवाही एक खुले और सुसज्जित मंच पर हुई, जो सांस्कृतिक और वैदिक विधि-विधान से पूर्ण रही। समारोह के आयोजक श्री आत्माप्रसादसिंह एडवोकेट मुख्य उनके परिवारके सभी सदस्यों तथा अन्य अगणत सहयोगी गुरु-भाई-बहनों ने गुरु-पूजन के रूप में जो कुछ भी पत्र-पुष्प एवं बहुमूल्य वस्त्रादि इस अवसर पर गुरु-चरणों में समर्पित किये, इनमें अधिक मूल्य उस श्रद्धा-भक्तिका ही आंकना होगा, जो अभिषेक की इस पावन प्रक्रिया में भाग लेने वाले शिष्य और साधक-समूह में देखने को मिली। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" के अनुसार सभी योग-प्रेमी भाई-बहनोंको चारों ओर अपने आराध्य का ओज, तेज और सौम्यता से भरा हुआ आनन्दमय रूप ही नजर आ रहा था। उन्हीं के यश की चर्चा, उन्हीं का गुणानुवाद और उन्हीं की महिमा से सभी के हृदय आप्लावित हो रहे थे।

सरस संगीत-सम्मेलन—

अभिषेक की कार्यवाही सम्पन्न होने के पश्चात् श्रीकृष्ण धर्मशाला के विशाल प्रांगण में ब्रह्मभोज सम्पन्न हुआ, जिसमें स्थानीय एवं बाहर के सभी समागत भाइयों ने सम्मिलित होकर प्रसाद ग्रहण किया तथा नदेसर में सायं कार्यक्रम के समापन के उपलक्ष में एक सरस संगीत समारोह का आयोजन किया गया। इसमें बनारस निवासी गुदई महाराज घराने के सुविख्यात गायकों ने शास्त्रीय संगीत के उच्चतम् कार्यक्रम प्रस्तुत किये। [illegible] और विविध वाद्यों की मधुर ध्वनियों [illegible] प्रवचन-स्थल पर उल्लास और आनन्द [illegible]क सरस धारा ने श्रोता-समूह को मन्त्र[illegible]सा बना दिया था। सभी दृष्टियों से [illegible] संगीत सम्मेलन भी कार्यक्रम का एक स[illegible]णीय अंग रहा।

तीन अक्टूबर को श्री गुरुदेवजी महाराज अपने ब्रह्मचारियों के साथ यहाँ से अगले योग-प्रचार कार्यक्रमके लिए रवाना हो गये। सभी उपस्थित सदस्यों ने उन्हें भावभीनी विदाई दी।

जन्म-दिवस के इस पावन अवसर पर 'सिद्धयोग' के संयुक्त सम्पादक श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' की एक भावपूर्ण रचना भी संयोजन समिति द्वारा छपवाकर वितरित की गई थी, जिसका शीर्षक था 'विजय-पर्व'।

पूर्व प्रकाशित से आगे—

श्री गुरुदेवजी महाराज का आगामी कार्यक्रम

१६-११-८७ से २७-११-८७ तक	योग-प्रचार कार्यक्रम हैदराबाद पता—श्री रमेशचन्द गुप्ता गंगा सदन प्लाट नं० ३१ रेवेन्यू बोर्ड कालोनी (हैदराबाद)
२८-११-८७ से ३०-११-८७ तक	निजी कार्यक्रम

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG, 008 Nov. 1987

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, खर्वाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

—❀❀❀—

श्री ....
....
....
....

❀ सदैव बनी रहने वाली मेरी सत्ता ❀

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक उसका वाह्यरूप—उसका आकार, प्रकार, रंगरूप आदि और दूसरा उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तुतत्त्व कहते हैं। नामरूप शरीर के होते है, जीवों के नहीं। रूप जन्म के साथ आता है, नाम पुकारने की सुविधा के लिए लोगों द्वारा दिया जाता है। समय के साथ रूप बदलता रहता है—कभी-कभी इतना बदल जाता है कि पहचान में नहीं आता। कभी-कभी नाम भी बदल जाता है, किन्तु सब-कुछ बदल जाने पर भी अपनी दृष्टि में और दूसरों की दृष्टि में भी मैं ७० वर्ष बाद भी वही हूँ जो जन्म के समय था। जो ७० वर्ष तक ज्यों का त्यों बना रहता है, वस्तुतः मैं वही हूं। संसार से विदा होते समय मैं अपने नामरूप का परित्याग कर देता हूँ, किन्तु मेरी सत्ता तब भी बनी रहती है।

—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विद्रुम' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, ... आगरा